संस्कृति

अंक-12, अर्द्धवार्षिक-2006

सौजन्य : प्रो० लोकेशचन्द्र

बज्र-सरस्वती : तिब्बत के आम्दो प्रान्त से प्राप्त रेखाचित्र

संस्कृति

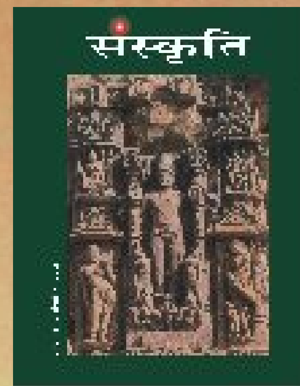

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संरक्षक :
बादल के.दास., सचिव, संस्कृति मंत्रालय

मुख्य परामर्शदाता :
के. जयकुमार, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय
रामचंद्र मिश्र, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय

सम्पादक :
मोहिनी हिंगोरानी, निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

उप सम्पादक :
मीमांसक, सहायक निदेशक, राष्ट्रीय अभिलेखागार

प्रशासनिक सहयोग :
श्याम सूद, उप निदेशक, संस्कृति मंत्रालय
सुरेश सिंह, सहायक निदेशक, संस्कृति मंत्रालय
डी.आर.डोगरा, निजी सचिव, संस्कृति मंत्रालय
राजभाषा प्रभाग, संस्कृति मंत्रालय के सभी कार्मिक

2006, अर्द्धवार्षिक
अंक-12, तीन हजार प्रतियां
http://indiaculture.nic.in पर भी उपलब्ध

मुख्य आवरण :
सूर्य की मूर्ति, सूर्य मंदिर, मोदेरा, गुजरात

भीतरी मुख्य आवरण :
ब्रज सरस्वती : तिब्बत के आम्दो प्रान्त से प्राप्त रेखाचित्र

अंतिम आवरण :
नर्तक, सूर्य मंदिर, कोणार्क, 13वीं शताब्दी

पोस्टर :
केरल के पद्मनाभपुरम और मत्तनचेरी महलों के भित्तिचित्र

भीतरी अंतिम आवरण :
''लेन्स'', कलाकार : **मदन लाल नागर**

संपादकीय पता
322, सी विंग, शास्त्री भवन,
डा॰ राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली-110011
☎ : 0091-11-23383032
ई-मेल : mkhingorani04@hotmail.com

केवल नि:शुल्क सीमित वितरण के लिए
संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उससे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

अनुक्रम

i संस्कृति पर्यटन

1 भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2550वीं वर्षगांठ
- उमेश कुमार

3 सनौली : एक विस्मृत स्वर्णिम सांस्कृतिक आयाम
- ध॰वी॰ शर्मा, कि॰च॰ नौरियाल, वी॰एन॰ प्रभाकर

8 भारतीय संस्कृति में सूर्य की महिमा
- राजेश कुमार सिंह

12 हमारी भाषा और संस्कृति पर शतरंज का प्रभाव
- डॉ॰ परमानंद पांचाल

15 जूता भी बयां करता है बदलते समय की कहानी
- डॉ॰ अनामिका पाठक

19 फुलकारी - पंजाबियों की पहचान
- डा॰ सरोज चमन

27 पहाड़ी दीवाली : विचित्र नाम एवं परंपराएँ
- डॉ॰ नवरत्न कपूर

32 सामूहिक सृजनात्मकता का प्रतीक : रावत नाच
- सुरेश पंडित

35 यूरोप ने देखा अद्भुत भारत
- संदीप साइलस

40 भारत-पाक उपमहाद्वीप का बहु-संस्कृतिवाद
- पद्मश्री डॉ॰ मोतीलाल जोतवाणी

44 बुल्ला की जाणां मैं कौण...
- सुधीर कुमार

हिन्द महासागर का सांस्कृतिक महत्व 47
- डॉ॰ राधाकान्त भारती

भारत में फारसी संस्कृति के पद्चिह्न 50
- डा॰ शिबानी राय

जापान में नागरी लिपि 55
- डॉ लोकेशचन्द्र

सोफ़िया : प्राच्य की ओर खुले गवाक्ष 58
- डॉ॰ रणजीत साहा

जमैका में भारतीय और भारतीय संस्कृति 65
- डॉ॰ सीताराम पोद्दार

लाख टके की मेरी बिंदिया 70
- डॉ॰ मृदुला सिन्हा

कला पुरोधा मदन लाल नागर : एक अवलोकन 74
- डॉ॰ अवधेश मिश्र

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन 81
- डा॰ सुधा गोपालाकृष्णन

भाषा और संस्कृति 83
- डॉ॰ गंगा प्रसाद विमल

परतों में छिपी कोशी की संस्कृति 87
- डॉ॰ ओम प्रकाश पाण्डेय

आपका पत्र मिला 89

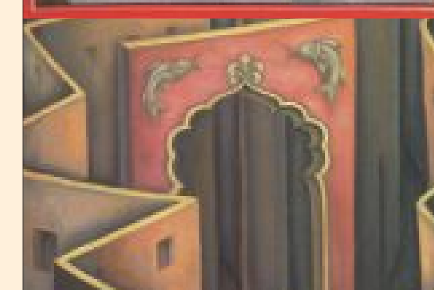
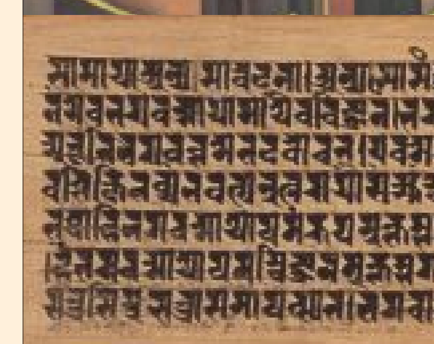

सांस्कृतिक पर्यटन

भारत का इतिहास हजारों वर्षों से सैंकड़ों संस्कृतियों के सम्मिलन का इतिहास रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत आर्थिक महाशक्ति बनने की राह पर अग्रसर है और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध इस महान देश में आज विश्व स्तर पर रुचि ली जा रही है।

भारत रंगों का, मेलों का, पर्वों का, आस्था के उत्सवों का भी देश है। पूरे वर्ष यहाँ कोई न कोई सांस्कृतिक गमक रहती ही है। गणेश चतुर्थी के दौरान महाराष्ट्र, दुर्गा पूजा के दौरान बंगाल, रथयात्रा के दौरान उड़ीसा, बैसाखी के दौरान पंजाब, मकर संक्रांति के दौरान नवान्न पर्व पोंगल, पशु मेले का सोनपुर, हस्तशिल्प का सूरजकुंड, कुंभ के दौरान हरिद्वार-उज्जैन, ओणम के दौरान केरल... सूची बहुत लम्बी है। दुनिया की विभिन्न नागरिकताएं भारत की इन अद्‌भुत सांस्कृतिक रंगतों की ओर भी आकृष्ट हैं। विदेशी युगल भारतीय रीति-रिवाजों के अनुरूप दाम्पत्य बंधन में, बंधने के लिए भारत चले आते हैं; नवरात्रि के दौरान विदेशी पर्यटकों का रेला गुजरात आ पहुंचता है और डांडिया-गरबा में झूम-झूम कर थिरकता है। देशी-विदेशी पर्यटक होली के दौरान ब्रज और मणिपुर में, दशहरे के दौरान मैसूर में और निश्चित तिथियों को विभिन्न तीर्थस्थानों पर सैंकड़ों-सहस्त्रों की संख्या में पहुंच ही जाते हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति सांस्कृतिक रूप से समृद्ध अन्य देशों में भी है। मैक्सिको का ''डे ऑव डैड'' अथवा रियो डी जेनेरो (ब्राजील) का कार्निवाल भी अपने अपने देशों के लिए पर्यटकों को भारी संख्या में आकर्षित करते हैं। सुदूर सेशल्स में भी पिछले 21 वर्षों से प्रतिवर्ष निरन्तर आयोजित हो रहे क्रिओल उत्सव में भाग लेने के लिए प्रति वर्ष हजारों क्रिओली दुनिया के कोने-कोने से आकर सेशल्स में एकत्र होते हैं।

लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान से रूबरू होने, अपने लोक रंगों में स्वयं को फिर से रंग कर ताजा होने के लिए अपनी नाल की ओर खिंचे चले आते हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक पर्यटन को देश की आर्थिक प्रगति के साथ जोड़ा जा सकता है।

दुनिया भर में फैले करोड़ों प्रवासी भारतवंशी भी समय-समय पर भारत आकर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ने के साथ-साथ भारत की आर्थिक प्रगति में योगदान दे सकते हैं। पर्यटन उद्योग के अंतर्गत ऐसे विशिष्ट सांस्कृतिक पर्वों और उनसे जुड़े लौकिक रंगों का एक कैलेंडर तैयार किया जा सकता है और उसके अनुरूप पूरे वर्ष का एक ऐसा रंगारंग सांस्कृतिक शेड्यूल बनाया जा सकता है जो लोक संस्कृति को पुनर्जीवित करने के साथ-साथ न केवल प्रवासी भारतवंशियों को, बल्कि विदेशी पर्यटकों को भी भारत की सांस्कृतिक यात्रा के लिए प्रेरित करे। हमारे ''गरबा'' और ''भांगड़ा'' में भी ''सालसा'' और ''साम्बा'' के समान भौगालिक सीमाओं को लांघ कर लोकप्रिय होने की अपार संभावनाएं निहित हैं। भारत के मेलों और त्योहारों के मोहक रंगों को वैश्विक पटल पर योजनाबद्ध तरीके से बिखेरा जाए, अपनी सांस्कृतिक इंद्रधनुषी उत्सव-धर्मिता को विशिष्ट नीति के तहत् अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित और स्थापित किया जाए तो देश का पर्यटन उद्योग नए दिगंतों को तो छुएगा ही, साथ ही देश की आर्थिक प्रगति में लगे इस सांस्कृतिक छौंक से ज़ायका भी बढ़ेगा। उतना ही नहीं वैश्विक पर्यटक वापसी में अपने साथ भारतीय संस्कृति के खुशनुमा अनुभव और मीठी यादें संजोकर ले जाएंगे और अपने-अपने देश में भारत के स्वाभाविक सांस्कृतिक दूत की भूमिका निभाएंगे।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में कहा गया है कि :

'ग्रीष्मस्ते भूमि वर्षाणि शरद हेमंतः शिशिरो वसंतः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहों राये पृथिवी नो दुहाताम।।
यस्यां गायति नृत्यति भूम्यां मर्त्या व्येलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।।'

'(हे भूमि, ग्रीष्म - वर्षा - शरद् - हेमंत - शिशिर - बसंत, ये ऋतुएँ, ये दिन-रात के फेरे तुम्हें नित नये मनोहर रूप देने के लिए हैं, तुम मेरे लिए पिन्हा जाओ। जिस पृथ्वी पर मनुष्य गाते हैं, नाचते हैं, गुहार लगाते हैं, दुन्दुभि बजाते हैं, वह पृथ्वी हमें वैरहीन बनाए। किसी से हमारा वैर न हो, प्रतिस्पर्धा न हो)'। यह है भारतीय संस्कृति का स्वर जो हर किसी को बांहें फैलाकर स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है।

''संस्कृति'' पत्रिका को वर्ष 2006 में हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार की ओर से तथा राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से प्राप्त प्रथम पुरस्कारों ने निःसंदेह हमारे उत्साह को बढ़ाया है परन्तु उससे अब हम पर पाठक जगत की बढ़ी हुई अपेक्षाओं का दबाव भी बढ़ा है।

हिंदी में कला-इतिहास-संस्कृति की यह पत्रिका आगे भी एक तेजस्वी, वेगवान धारा बनकर बहती रहे, इसके लिए आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों व सुधी लेखकों का सक्रिय सहयोग एक अनिवार्यता है।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2550वीं वर्षगांठ का स्मरणोत्सव

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2550वीं वर्षगांठ मनाए जाने का निर्णय किए जाने पर भारत सरकार द्वारा माननीय प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित समिति की बैठक 10.01.2006 को आयोजित की गई और बैठक में लिए गए निर्णय के अनुसार पर्यटन और संस्कृति मंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय कार्यान्वयन समिति गठित की गई। राष्ट्रीय कार्यान्वयन समिति की प्रथम बैठक 18.04.2006 को आयोजित की गई और यह निर्णय किया गया कि समूचे भारत में बौद्ध संगठनों द्वारा समारोह आयोजित किए जाने के अलावा राष्ट्रीय स्तर पर तीन समारोह नामत: उद्घाटन समारोह, बोधगया में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार और कुशीनगर में समापन समारोह आयोजित किए जाएंगे।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2550वीं वर्षगांठ के स्मरणोत्सव के उद्घाटन समारोह के दौरान प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह, कांग्रेस अध्यक्षा श्रीमती सोनिया गांधी, पर्यटन एवम् संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी – 13 मई 2006, नई दिल्ली

CMYK # 1

धन्यवाद ज्ञापन प्रस्तुत करते हुए संस्कृति सचिव श्री बादल के. दास

उपर्युक्त के क्रम में उद्घाटन समारोह 13 मई, 2006 को विज्ञान भवन में आयोजित किया गया और इसे माननीय प्रधानमंत्री, डॉ. मनमोहन सिंह, श्रीमती सोनिया गांधी और पर्यटन और संस्कृति मंत्री, श्रीमती अम्बिका सोनी द्वारा सम्बोधित किया गया। संस्कृति सचिव, श्री बादल के. दास ने धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तुत किया और संयुक्त सचिव, संस्कृति ने बौद्ध-भिक्षुओं को पारम्परिक चीवर भेंट किए।

बोधगया में अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार 4-6 फरवरी, 2007 को आयोजित किया जाना है इसका समापन समारोह 2 मई, 2007 (बुद्ध पूर्णिमा) को आयोजित किया जाएगा।

10 करोड़ रु० के प्रारंभिक आवंटन के तहत अरुणाचल प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक में 4.72 करोड़ रु० की अनुमानित लागत की परियोजनाएँ मंजूर की गई हैं। गैर-सरकारी संगठनों से प्राप्त समारोह के प्रस्तावों पर भी विचार किया गया है और विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों के लिए पूरे देश में आयोजित किए जाने वाले ऐसे 15 समारोहों को मंजूर किया गया है जिन पर कुल 63.5 लाख रु० की प्राक्कलित लागत आएगी। इस समारोह के स्मरणोत्सव हेतु कुछ प्रकाशन निकाले जाने का भी प्रस्ताव है और इस विशेष कार्य में एक विशेष उप-समिति कार्यरत है।

संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी के साथ राज्यसभा के सदस्य एवम् भा.सा.स. परिषद (ICCR) के अध्यक्ष डा० कर्ण सिंह

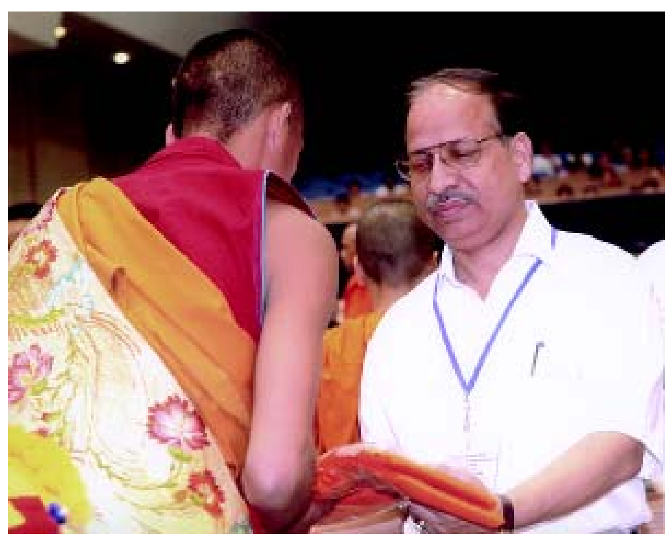

बौद्ध-भिक्षुओं को पारम्परिक चीवर भेंट करते हुए संस्कृति मंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री रामचन्द्र मिश्र

– ध०वी० शर्मा,
कि०च० नौरियाल,
वी०एन० प्रभाकर

सनौली :
एक विस्मृत स्वर्णिम सांस्कृतिक आयाम

विगत कुछ वर्षों में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने पुरातात्विक महत्व के अनेक प्राचीन स्थलों में उत्खनन कर भारतीय संस्कृति के अध्याय जोड़े हैं जिसके फलस्वरूप कई नूतन जानकारियाँ प्रकाश में आई हैं। उनमें, प्रागैतिहासिक संदर्भ में, एक है सनौली, जहाँ पिछले दो वर्षों; क्षेत्र-कार्य सत्र 2004-05 तथा 2005-06 में उत्खनन कार्य के फलस्वरूप लगभग 4000 वर्ष प्राचीन हड़प्पा कालीन कब्रिस्तान प्रकाश में आया। देश तथा काल के परिपेक्ष्य में सनौली की खोज हड़प्पा सभ्यता का सर्वथा नया आयाम है तथा प्रस्तुत लेख इसी खोज से सम्बन्धित कुछ रोचक पहलुओं को उजागर करने पर आधारित है।

सनौली-गाँव (29° 8' 28" उत्तर; 77° 13' 33") तथा परिवेश

सनौली-गाँव, जिसका पूरा नाम सादिकपुर सनौली है, पश्चिम उत्तर प्रदेश के बागपत जिला, तहसील बड़ौत-छपरौली सड़क के किनारे बड़ौत से लगभग 5 कि.मी. की दूरी पर बसा है। दिल्ली से सनौली लगभग 60 कि.मी. सुदूर उत्तर-पूर्व दिशा की ओर पड़ेगा।

यह माना जाता है कि कोई न कोई सदानीरा नदी किसी संस्कृति की जननी होती है जिसके तट पर यह संस्कृति न केवल जन्म लेती है बल्कि फलती-फूलती है। इस दृष्टिकोण से सनौली ऊपरी गंगा-यमुना नदी के दोआब में स्थित है, और यदि सटीक रूप में कहें तो यमुना-हिंडन दोआब – हिंडन यमुना की सहायक नहीं है – में स्थित है। आज की तारीख में यमुना सनौली गाँव से लगभग 6 कि.मी. दूर पश्चिम दिशा में बहती है, किन्तु प्राचीन समय में, लगभग 4000 वर्ष पूर्व यमुना गाँव के नजदीक से बहती होगी जिसका प्रमाण गाँव के किनारे स्थित एक बड़ा जोहड़ है जो कि यमुना से बनी 'आक्स-बो' झील का बचा-खुचा भाग है। चूँकि गाँव तथा इसके आसपास का पूरा क्षेत्र यमुना तथा इसकी सहायक नदियों द्वारा गतित बाढ़-क्षेत्र पर बसा है, यहाँ की मिट्टी कछारी तथा काफी उपजाऊ है। जमाव के दृष्टिकोण से आज की ऊपरी सतह से लगभग 1.20 मी. तक की मिट्टी का जमाव पूर्णतः कछारी है। इसके पश्चात् लगभग 1 मी. छोटे-मोटे रोड़े, जिनको कि ''बिच्छू-कंकड़'' कहा

सनौली का उत्खनन-स्थल

> **"सनौली में पिछले दो वर्षों यानी कार्य-सत्र 2004-05 तथा 2005-06 में उत्खनन कार्य के फलस्वरूप लगभग 4000 वर्ष प्राचीन हड़प्पाकालीन कब्रिस्तान प्रकाश में आया। देश तथा काल के परिपेक्ष्य में सनौली की खोज हड़प्पा सभ्यता का सर्वथा नया आयाम है।"**

जाता है, का है। तत्पश्चात् यमुना मिट्टी तथा रेत के बारी-बारी से जमाव हैं। बिच्छू-कंकड़ वाली मिट्टी का जमाव भूमिगत जल के इस स्तर पर उतार-चढ़ाव के कारण से हुआ जान पड़ता है। भूमिगत जल स्तर जब बढ़ता है जो मिट्टी में नमी बढ़ती है, और जब जलस्तर उतरता है तो मिट्टी क्रमश: सूखती चली जाती है और जहाँ नमक सांद्रण अधिक होता है वहाँ बिच्छू-कंकड़ का उद्‌भव हो जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है की सम्पूर्ण विचाराधीन क्षेत्र नदियों द्वारा लाया जमाव है जिसकी वजह से यह क्षेत्र भरपूर उपजाऊ है। आज कृषि विज्ञान तथा सिंचाई व्यवस्था में हुए विकास की बदौलत समूचा क्षेत्र 'सघन कृषि क्षेत्र' में तब्दील हो चला है। अधिकतर क्षेत्र में पूरे वर्ष गन्ना उगाया जाता है जिसकी वजह से इस क्षेत्र और इसके आसपास कई चीनी बनाने के कारखाने हैं। उगाई जाने वाली अन्य फसलों में गेहूँ प्रमुख है।

सनौली का कब्रिस्तान आज के सनौली गाँव से आधा कि.मी. से भी कम दूरी पर पूर्व दिशा में स्थित है। वर्ष 2004 में कुछ गाँव वालों ने यहाँ एक खेत से मिट्टी निकालने हेतु खुदाई कराई तो खुदाई से कुछ मिट्टी के पात्र, एक मानव खोपड़ी तथा कंकाल के अन्य हिस्से, ताँबे की एक तलवार के साथ प्राप्त हुए। यह एक अचानक की गई, किंतु महत्वपूर्ण खोज थी। खबर मिलते ही हम सब लोग सनौली गाँव पहुँचे, कहोज-स्थल का दौरा किया, तथा खोज की गई वस्तुओं तथा परिस्थितियों का सिलसिलेवार ब्यौरा बना एक विस्तृत लेख छापा जो कि 'पुरातत्व' पत्रिका के 34वें अंक में हमने इस स्थल के पुरातात्विक महत्व को रेखांकित कर दिया था जिसकी पुष्टि बाद में की गई खुदाई से शत-प्रतिशत हुई।

कब्रिस्तान का उत्खनन कार्य

सनौली कब्रिस्तान का उत्खनन करने से पहले संपूर्ण स्थल की गहरी छानबीन की गई, और यह निर्णय लिया गया कि शुरुआत गाँववालों द्वारा बनाए गए लगभग 700 वर्ग मी. गड्ढे से ही की जाए क्योंकि अनजाने में यहाँ कई महत्वपूर्ण साक्ष्य नष्ट हो गये थे। फिर भी जो बच रहे थे, उनको संदर्भ सहित विस्तृत रूप से अभिलेखित करना नितांत आवश्यक था। दूसरे यहाँ से कार्य प्रारम्भ करने पर "ज्ञात से अज्ञात की ओर" वाले पुरातात्विक सिद्धांत का अनुपालन करना सुगम था। उत्खनन के उद्देश्यों की प्राप्ति हुई। इस प्रणाली विज्ञान का अनुसरण अंतत: प्रभावी सिद्ध हुआ और लगभग 12

उत्खनित मृदभाण्ड व मनके

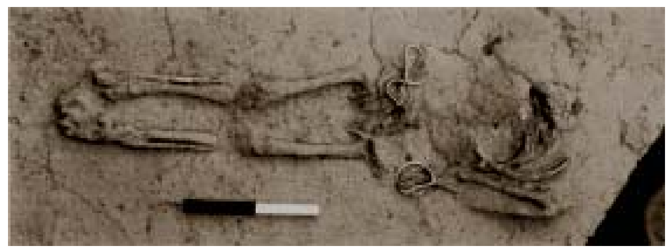

उत्खनित कब्र से प्राप्त स्वर्णाभूषण

महीनों की अवधि के भीतर ही महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रकाश में आए।

सनौली कब्रिस्तान के उत्खनन के 3 महत्वपूर्ण पहलू पारिभाषित किए गए। यह थे (1) प्राप्त ताँबे की तलवार का सांस्कृतिक पहलू निश्चित करना, (2) यहाँ के सम्भावित हड़प्पीय कब्रिस्तान से सम्बन्धित जानकारी हासिल करना, तथा (3) गंगा-यमुना दोआब के हड़प्पा सभ्यता के विस्तार तथा इसके सांस्कृतिक विन्यास को समझना।

इससे पूर्व कि हम उत्खननों के परिणामों पर प्रकाश डालें तो दो शब्द 'ताँबे की तलवार' तथा 'गंगा-यमुना दोआब में हड़प्पा सभ्यता' के विषय में कहना भी उपयुक्त होगा।

कालक्रम की दृष्टि से बात करें तो सर्वप्रथम हड़प्पा सभ्यता के विषय में जिक्र कर सकते हैं। भारतीय उप-महाद्वीप के एक विस्तृत भू-भाग, मध्य तथा निम्न सिंधु नदी के दोनों ओर तथा इसके पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में फैली हड़प्पा सभ्यता (अथवा सिंधु घाटी या सिंधु सभ्यता जैसा कि कुछ विद्वान लोग कहना पसंद करते हैं), जिसका पश्चिमी-छोर सुतकाजेन डोर (पाकिस्तान), उत्तरी-छोर मांडा (जम्मू एवं कश्मीर), पूर्वी-छोर आलमगीरपुर (मेरठ) तथा

उत्खनित कब्र

दक्षिणी-छोर दायमाबाद (महाराष्ट्र) तक फैला है, के अवशेष 1921 में हड़प्पा तथा 1922 में मोहनजोदड़ो (दोनों अब पाकिस्तान में) में पहचाने गये। विश्व की चार महान संस्कृतियों - मिस्र, मैसोपोटामिया, चीन तथा हड़प्पा सभ्यता को तीन मुख्य चरणों - प्रारम्भिक (लगभग 3000-2600 ई.पू.), मध्य (लगभग 2600- 2000/1900 ई.पू.) भाग - में बाँटा गया है।

चूँकि, उत्तरकालीन चरण में क्षेत्र-विशिष्ट सांस्कृतिक उप-पहलू दृष्टिगोचर होते हैं, अध्ययनाधीन क्षेत्र में इस दिशा में अभी तक कोई अध्ययन नहीं किया जा सका है। सनौली-क्षेत्र के आसपास जिन महत्वपूर्ण हड़प्पीय स्थलों की खुदाई हुई उनमें प्रमुख हैं, आलमगीरपुर (मेरठ), हुलास (सहारनपुर) तथा मांडी (मुजफ्फ़र नगर)। मांडी से तो आशा से परे उपरत्नों से निर्मित मनकों के अलावा चाँटी और सोने के जेवर भी मिले हैं जिनमें से कुछ अभी राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली की ''हड़प्पा वीथिका'' में प्रदर्शित हैं। मांडी सोना अभी तक किसी भी अन्य हड़प्पा स्थल से मिले सोने से काफी ज्यादा है, अत: यह मांडी को हड़प्पा स्थलों की विशिष्ट श्रेणी में लाता है। हुलास तथा आलमगीरपुर से हड़प्पा संस्कृति की लिपि के प्रमाण भी मिले हैं जिनका अपना विशेष महत्व इन स्थलों के विकास में रहा होगा।

मिट्टी के खिलौने

यदि उपरोक्त वर्णन को हम सनौली की कहानी की पृष्ठभूमि का एक छोर मानें तो दूसरा छोर 'ताम्र-जखीरा' (कॉपर होर्ड) कहा जा सकता है, जिसके तीन विशिष्ट तथा मुख्य पुरावशेष हैं -शृंगिक युक्त ताँबे की तलवार (एन्टीना स्वोर्ड), मानवाकार पुरावशेष (एन्थ्रोपोमॉर्फ) तथा मत्स्यभाल या काँटेदार बर्छी (हारपून)। ताम्र-जखीरे की वस्तुएँ, जिनमें उपरोक्त तीन अवशेषों के अतिरिक्त ताँबे के कड़े या छल्ले, सपाट कुल्हाड़ी (सेल्ट), बाणाग्र, छड़दार कुल्हाड़ी, वृष-शीर्ष, इत्यादि हैं। अभी तक तीन मुख्य क्षेत्रों से पाई गई हैं जिनमें हैं, (अ) गंगा घाटी का क्षेत्र, (ब) पठार का क्षेत्र तथा (स) राजस्थान का क्षेत्र। विद्वानों ने इन तीन अलग-अलग क्षेत्रों से ताम्र जखीरे की अलग-अलग वस्तुओं के मिलने को समझने का प्रयास किया है। अभी तक यह समझा गया है कि क्षेत्र ''अ'' जिसका सम्बन्ध सनौली से है, जिसमें उत्तर प्रदेश (गंगा-यमुना दोआब का ऊपरी तथा मध्य इलाका), हरियाणा तथा इसके समीपवर्ती भाग आते हैं, से श्रृंगिका युक्त ताँबे की तलवार, कांटेदार बर्छी, सपाट कुल्हाड़ी, कन्धेदार कुल्हाड़ी (शोल्डर्ड सेल्ट), छड़दार कुल्हाड़ी (छेनी अथवा बार सेल्ट), कड़े आदि मिले हैं। जहाँ स्टुएट पिगट और हेन गिल्डर्न ने इनको हड़प्पा से आए शरणार्थी के संदर्भ में समझा है, प्रो.बी.बी. लाल ने इनको गेरु चिह्नित मृद्भाण्ड संस्कृति से जोड़ा है। प्रो.एम.के. धवलिकर के अनुसार गेरु मृद्भाण्ड संस्कृति के भी तीन चरण हैं, जिनमें कि तृतीय चरण में यह तथा ताम्र जखीरे संस्कृति का अनुसरण करने वाले लोग पहले दौर में ऊपरी गंगा घाटी में बसे जो बाद में मध्य गंगा घाटी तथा छोटा-नागपुर में बसने चले गए। उनके अनुसार ताम्र जखीरे संस्कृति के अन्तिम चरण में रह रहे लोगों का समय लगभग 2000-1500 ई.पू. था।

यदि उपरोक्त निर्धारित कालक्रम, जो कि दोनों तरह से द्वितीय सहस्राब्दि के प्रारम्भ से ही सम्बन्ध रखता है, पृष्ठभूमि पर रखा जाए तो सनौली से प्राप्त साक्ष्यों का विश्लेषण करने में आसानी रहेगी।

सनौली उत्खनन के परिणाम

अभी तक सनौली उत्खनन से मिले परिणाम के फलस्वरूप 116 कब्र खोदी जा चुकी है जिन्हें मुख्यत: दो श्रेणियों - (अ) नरकंकाल सहित और (ब) नरकंकाल रहित - में बांटा जा सकता है। हर श्रेणी की अपनी विशेषताएँ हैं जिनका जिक्र हम नीचे करेंगे। उत्खनन परिणाम के जो कुछ सामान्य पहलू हैं वह इस प्रकार हैं :-

विशेषताएँ

(क) कब्रों को स्तरीकरण विन्यास के आधार पर तीन तलों - निम्न, मध्य तथा ऊपरी तलों में रखा जा सकता है। अन्य बातों के अलावा

(ख) कमोबेश सभी-कब्रों में मिट्टी के पात्र हैं जिसमें बोतलनुमा पात्र (फ्लास्क), कटोरा, पानी का घड़ा, आधारयुक्त तश्तरी (डिश ऑन स्टैंड) तथा किसी कब्र में पात्रों के ढक्कन भी हैं। सभी पात्रों की स्थिति थोड़ी सी तिरछी रखी हैं जैसे उन्हें लिटा कर रखने का प्रयास किया गया हो। कहीं-कहीं पात्र बिलकुल बेतरतीबी से रखे दिखायी देते हैं। जो लगता है कब्र में अनुष्ठान पूरा होने के पश्चात् जब वापस मिट्टी डाली गयी

CMYK # 5

मृद्भाण्ड पर चित्रांकन

होगी तो पात्रों की मूल दशा बदल गयी होगी।

(ग) अधिकतर कब्रों में आधारयुक्त तश्तरी कंकाल के लगभग बीचोंबीच कूल्हे के नीचे रखी पायी गयी है। हालाँकि कहीं-कहीं यह सिर के पास अथवा पैर के पास भी रखी पायी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक का शव कब्र में रखने से पहले मिट्टी के बर्तन रखे जाते थे।

(घ) कुछ कब्रों से मृतक के सुन्दर गहने भी मिले हैं, जिनमें विशेष हैं, सोने, ताँबे अथवा उपरत्नों से बने गले अथवा हाथ के गहने। सभी कब्रों में किन्हीं अनुष्ठानों का कुछ न कुछ प्रमाण मिलता है। जिन कब्रों में मृतक का शव नहीं पाया गया, उनमें लगता है अधिक अनुष्ठान किये गये थे, तथा प्रतीकात्मक वस्तुएँ जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मृतक से था, मृतक की जगह रखी जाती थीं।

(ङ) प्रतीकात्मक कब्रों के दृष्टिकोण से सर्वाधिक विचारणीय है कब्र 14 जिसमें मृतक के शव के स्थान पर संभवत: उसकी तलवार और म्यान को मिट्टी के पात्रों के साथ दफन किया गया था। एक अन्य कब्र में सिर्फ एक म्यान को ही अन्य वस्तुओं के साथ दफन किया गया था। नीचे इसके बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे। किन्तु यहाँ इतना ही कहना प्रासंगिक रहेगा कि प्रतीकात्मक कब्रें मृतकों द्वारा किसी हादसे का शिकार होने का द्योतक हैं, और इन हादसों की वजह कुछ भी, जैसे सुदूर व्यापार, युद्ध, दुर्घटना, जंगली जानवरों द्वारा आक्रमण, हो सकती है।

मिट्टी का खिलौना

(च) कुछ कब्रों से मृतकों के शारीरिक अवशेषों के साथ-साथ जानवरों की हड्डियाँ भी मिली हैं। इन जानवरों में मुख्य हैं बकरी तथा बैल। कब्रों से जानवरों की हड्डियाँ मिलना कोई नई बात नहीं है और यह सम्भव है कि जानवरों के अनुष्ठानों के तहत बलिदान (?) किया जाता था। किसी-किसी कब्र में जानवरों की हड्डियाँ नहीं मिलीं पर अनेक पकी मिट्टी के बर्तन मिले हैं। एक कब्र से किसी पक्षी का कंकाल, जो गरुड़ (?) हो सकता है भी मिला है।

(छ) कब्रिस्तान से प्राप्त विभिन्न साक्ष्यों का अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि कुछ बाद की हड़प्पीय कब्रों के लिए पूर्व कब्रों को अपने मृतकों को दफनाने के लिए खोदा गया। इस तरह के संकेत कुछ कब्रों में स्पष्ट मिलते हैं। कहीं-कहीं कब्रों में कुछ टूटे हुए बर्तन या अन्य टूटी वस्तुएँ मिलती हैं जिन्हें देख कर लगता है कि यह कब्रें किसी न किसी स्वरूप में अवश्य अस्तव्यस्त हुई होंगी। मिट्टी के पात्रों में सम्भवत: खाने-पीने की वस्तुएँ रखी जाती होंगी। यह इस बात का संकेत है कि हड़प्पा संस्कृति के लोगों में मृत्यु के बाद भी इन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ने का विश्वास था जो पुनर्जन्म में आस्था के रूप में हो सकता है। गहनों का कब्रों में पाया जाना मृतक का गहनों के साथ सम्बन्ध तथा उसकी रुचि दर्शाता है।

मनके व आभूषण

अब हम चुनिन्दा कब्रों के बारे में कुछ विस्तृत रूप से कहने का प्रयास करेंगे।

दोहरी कब्र

सनौली कब्रिस्तान से उत्खनन की गई कब्रों में मध्य तल की पृष्ठव्य है एक दोहरी कब्र जिसमें दो मृतकों के कंकाल पाए गये हैं। दोनों मृतकों की उम्र लगता है, 30-35 वर्ष के भीतर रही होगी। शवाधान से प्राप्त वस्तुओं में शामिल है सिर के पास रखे मिट्टी के पात्र - मध्यम आकार के बोतलनुमा बर्तन (फ्लास्क) जिनके किनारे

मनके

क्रमशः बाहर को जाते हुए तथा चौड़े हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त इस कब्र से सेलखड़ी घोटी से बना लम्बा मनका जिसे सजाने के लिए पहले घोटी आड़ी रेखाएँ उत्कीर्ण की गईं, तत्पश्चात् उनमें रंग भरा गया, तथा सोने का सुन्दर मनका, दोनों मिले हैं।

मृतक के अवशेष के रूप में इस कब्र में मात्र एक ही खोपड़ी मिली है जबकि शरीर के अन्य हिस्से की हड्डियों के दो सेट मिले हैं जो इस कब्र का दोहरी कब्र होना साबित करते हैं। यहाँ एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि चूँकि यहाँ मृतकों के शरीर के सभी हिस्सों की हड्डियाँ नहीं पाई गई हैं, अतः ऐसा लगता है कि मृतकों का निधन कहीं दूर किन्हीं असाधारण परिस्थितियों में हुआ होगा, किंतु उनका दाह संस्कार संयुक्त रूप से इस कब्र में किया होगा। अब तक हड़प्पा स्थल से इस प्रकार की दोहरी कब्र लोथल (गुजरात) से मिली है जहाँ इसकी सम्भवतः सती प्रथा इंगित करने की बात कही गई है। सनौली में सम्भवतः ये दो मृतक भाई जान पड़ते हैं।

तिहरी कब्र

सनौली से प्राप्त अन्य महत्वपूर्ण तथा अपने आप में पूर्ण विशिष्ट है मध्य तल से प्राप्त तिहरी कब्र (कब्र 69)। इस कब्र में तीन मृतकों के कंकाल मिले हैं जिनकी कई हड्डियाँ यहाँ नहीं हैं। मात्र एक खोपड़ी उल्टी रखी गई है। कुल 21 मिट्टी के बर्तन रखे मिले हैं, जिनमें 9 बोतलनुमा पात्र, 2 घट, 3 आधारयुक्त तश्तरी तथा 6 कटोरे थे। इनमें दो घटों, जिनके विशेष रूप से बनाए ढक्कन भी थे, का विशेष रूप से वर्णन किया जा सकता है। ये घट या तो 'अस्थिकलश' अथवा 'भस्म कलश' रहे होंगे। इन घटों को ढकने के लिए दो ढक्कन थे जिनमें गुमटे के स्थान पर सुन्दर तैयार किए गये सींगों वाले बैलों के नमूने थे। यहाँ सभी तीनों आधारयुक्त तश्तरी, जो कि तीन

मनका

मृतकों की परिचायक लगती हैं, कूल्हे की हड्डी के नीचे अथवा कब्र में इस स्थान पर नहीं है। एक को छोड़कर बाकी दोनों में एक पैर की हड्डी वाले स्थान के पास तथा दूसरी पैर के स्थान के पास रखी मिली है।

तीन मृतकों को एक ही कब्र में दफन करने की यह घटना हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में पहली बार प्रकाश में आई है। अभी तक इस प्रकार की कब्रें लौह युग की 'महापाषाण संस्कृति' (मैगालिथिक काल) से ही ज्ञात थी। कब्र से एक मृतक की ही खोपड़ी का पाया जाना मृतकों का किसी अनहोनी घटना में मारा जाना, और सभी मृतकों के समूचे कंकाल न मिल पाने की स्थिति की ओर इंगित करते हैं।

प्रतीकात्मक कब्रें

शृंगिकायुक्त तलवार रखी कब्र, सनौली कब्रिस्तान से प्राप्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्ष्य है। यह कब्र (कब्र 14) जहाँ से एक तांबे की शृंगिकायुक्त तलवार तथा इसकी म्यान एक साथ हड़प्पा संस्कृति की एक कब्र से मिली है। पुरातात्विक दृष्टिकोण से यह एक महत्वपूर्ण साक्ष्य है जो यह हड़प्पा संस्कृति और ताम्र-जखीरे के लोगों के बीच पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान दर्शाता है। अभी तक किसी अन्य स्थल से ना तो तांबे की शृंगिका युक्त तलवार किसी कब्र से मिली है और न ही यह कभी म्यान सहित मिली है। कोई भी म्यान इस संदर्भ में भी पहली बार सनौली से ही मिली है।

– ध॰वी॰ शर्मा, कि॰च॰ नौरियाल,
वी॰एन॰ प्रभाकर,
द्वारा – भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, शिमला

"तीन मृतकों को एक ही कब्र में दफन करने की यह घटना हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में पहली बार प्रकाश में आई है। अभी तक इस प्रकार की कब्रें लौह युग की 'महापाषाण संस्कृति' (मैगालिथिक काल) से ही ज्ञात थीं।"

राजेश कुमार सिंह

भारतीय संस्कृति में सूर्य की महिमा

प्राकृतिक शक्तियों में से कदाचित किसी अन्य शक्ति ने मानव जीवन को उतना प्रभावित न किया हो, जितना सूर्य ने। प्रकाश एवं अग्नि के साक्षात रूप, सूर्य के उदय के साथ जहाँ समस्त जीव जगत क्रियाशील एवं प्रकाशमान होता है, वहीं उनके अस्त होने पर निष्क्रिय निद्रा की ओर अग्रसर।

सूर्य के नित्यप्रति उगने को सृष्टि की निरंतरता का द्योतक माना गया। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मनुष्य के दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाली घटनाएँ सूर्य द्वारा ही निर्धारित होती हैं, जैसे दिन-रात एवं ऋतुओं का होना।

अतएव सृष्टि के इस वरेण्य ऊर्जा स्रोत के प्रति मानव मन में श्रद्धायुक्त विस्मय की भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। सूर्य की महिमा को भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत लेख एवं छायाचित्रों द्वारा हम उनका अवलोकन करेंगे।

वैदिक काल में सूर्य की जीवनदायिनी शक्तियों का अभिज्ञान कर उन्हें देवता माना गया। उन्हें प्रसन्न करने के लिए वेदों में अनेक मंत्रों की रचना की गयी। मंत्रों में श्रेष्ठतम, गायत्री मंत्र उन्हीं को समर्पित है।

ओउम् भूर्भुव: स्व: तत्सवितुरवरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमही धियो यो न: प्रचोदयात:
(गायत्री मंत्र)

ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं महाभारत में जहाँ सूर्य को समस्त जीवों की आत्मा माना गया वहीं गीता में उन्हें परम ब्रह्म की आँखें कहा गया।

अनादिमध्यान्तमन्तवीर्यअनन्तबाहुँ राशि सूर्य नेत्रम्।
(श्रीमद्भाग्वदगीता)

रवि, भास्कर, मार्तण्ड सहित उनके कई नाम प्रचलित हुए एवं उनकी स्तुति में सूर्यसहस्रनाम की

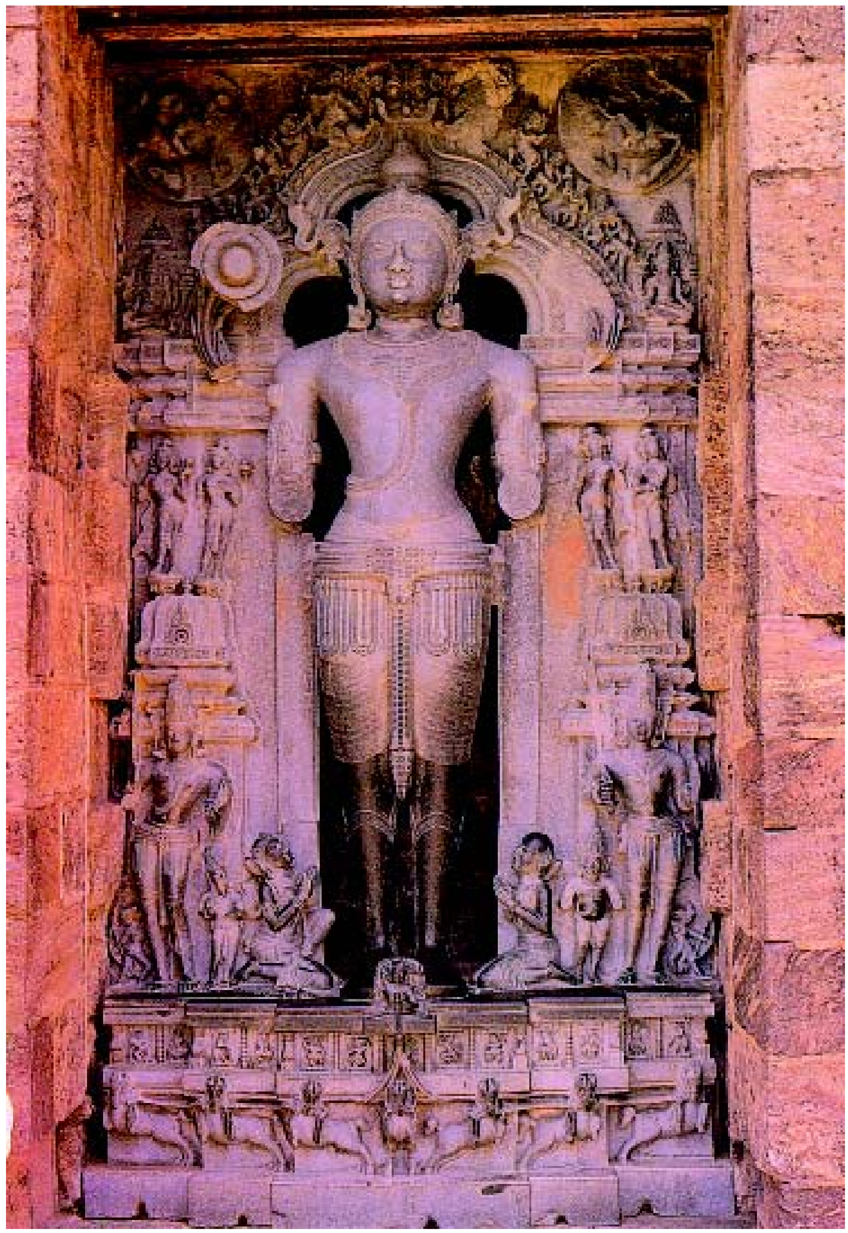

कोणार्क के सूर्य मंदिर की सूर्य प्रतिमा

रचना की गई। विद्वानों के अनुसार मुगल सम्राट अकबर भी सूर्यसहस्रनाम का जाप करते थे।

रामायण में भी सूर्य महिमा का उल्लेख है। महर्षि अगस्त्य श्री राम को आदित्यहृदयम् नामक मंत्र द्वारा सूर्य की आराधना के लिए प्रेरित करते हैं। सूर्य को वर्षा का कारक भी बताया गया है।

'आदित्यात्र जायते वृष्टि:'

(रामायण)

सूर्य को त्रिदेव का अवतार भी माना जाता है। प्रात: से मध्याह्न तक वे ब्रह्मा, अपराह्न में शिव एवं सांयकाल में विष्णु का रूप धारण करते हैं।

अनेक देवताओं में सूर्य ही एक ऐसे देव हैं जिनका दर्शन मनुष्य प्रतिदिन साक्षात रूप में करता है। अतएव सूर्योपासना के विविध रूप हमें भारतीय समाज के दैनिक जीवन में भी परिलक्षित होते हैं।

प्रात: काल में स्नान के समय, उदीयमान सूर्य को जल का अर्घ्य देने की परंपरा प्राचीनकाल से रही है। छठ पर्व के अवसर पर डूबते हुए सूर्य को भी अर्घ्य दिया जाता है।

"सूर्योपासना का एक प्रतिफल यह हुआ कि भारतीय समाज में सूर्य के मूर्त स्वरूप की कल्पना की गयी जो उनके दृष्टिगोचर स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। इन मूर्तियों की उपासना के लिए कई भव्य मंदिर भी निर्मित किए गये। यद्यपि ये मंदिर वर्तमान में पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं हैं तथापि, भारतवर्ष में सूर्योपासना से जुड़े हुए वास्तुकला एवं शिल्पकला के जीवंत उदाहरण हैं।"

उषाकाल में योगासनों के अभ्यास् से तन एवं मन स्वस्थ होता है, ऐसी मान्यता तो सदियों से रही है, पर उल्लेखनीय यह है कि आसनों के एक समूह का 'सूर्यनमस्कार' के रूप में प्रचलन हुआ।

सूर्य मंदिर

दक्षिण भारत में स्त्रियां एवं कन्याएं हर सुबह सूर्य का स्वागत, घर के सामने रंगोली बनाकर करती हैं। इन रंगोलियों द्वारा सूर्य को प्रसन्न कर उनसे घर में ऊर्जा एवं नैरोग्य प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

सूर्योपासना का एक प्रतिफल यह हुआ कि भारतीय समाज में सूर्य के मूर्त स्वरूप की कल्पना की गयी जो उनके दृष्टिगोचर स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। इन मूर्तियों की उपासना के लिए कई भव्य मंदिर भी निर्मित किए गये। यद्यपि ये मंदिर वर्तमान में पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं हैं तथापि, भारतवर्ष में सूर्योपासना से जुड़े हुए वास्तुकला एवं शिल्पकला के जीवंत उदाहरण हैं। इन कलाओं की विशेषताओं को समझने के क्रम में हम उत्तर भारत के मार्तण्ड (जम्मू एवं कश्मीर), पश्चिमी भारत के मोधेरा (गुजरात) एवं पूर्वी भारत के कोणार्क (उड़ीसा) मंदिरों की चर्चा करेंगे।

मार्तण्ड का सूर्यमंदिर, श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में माटन नामक स्थान पर एक ऊँचे पठार पर रमणीय परिसर में निर्मित है। कवि कल्हण की राजतरंगिणी में मार्तण्ड मंदिर के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि इसका निर्माण कश्मीर के प्रसिद्ध नृप ललितादित्य मुक्तापीड ने सातवीं-आठवीं शताब्दी में करवाया था। उल्लेखों से यह भी पता चलता है कि गर्भगृह में स्थापित सूर्य की प्रतिमा पहले ताम्र तदुपरांत स्वर्ण की बनी थी। मार्तण्ड मन्दिर का वर्णन अबुल फजल रचित आईने-अकबरी एवं नीलमाता पुराण में भी मिलता है।

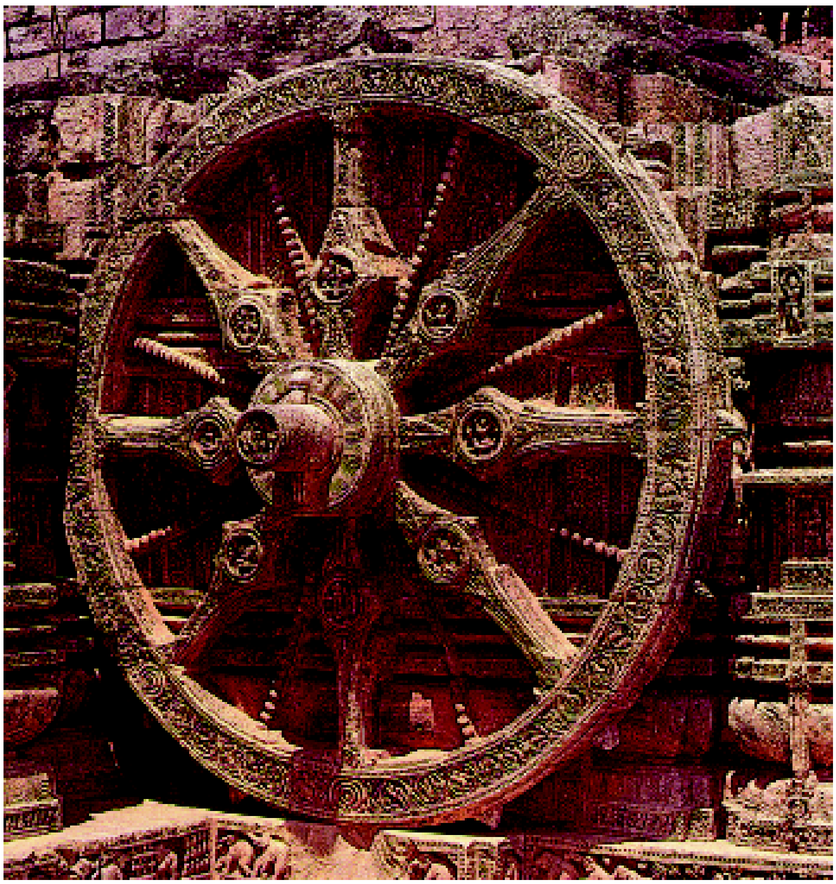

कोणार्क स्थित सूर्य मंदिर के बृहद् रथ का पहिया

मार्तण्ड मंदिर आज भी अपनी विशालता, सघनता एवं सादगी से सभी को प्रभावित करता है। मंदिर परिसर में गर्भगृह के अलावा अंतराल, मंडप एवं एक लघु सूर्यकुंड भी निर्मित है।

मंदिर के गर्भगृह में अब कोई प्रतिमा नहीं है पर सौभाग्य से मंदिर की दीवारों पर उत्कीर्ण अनेक मूर्तियों में सूर्य की भी एक प्रतिमा सुरक्षित है। यह चतुर्भुज मूर्ति कई विशेषताओं को दर्शाती है, जैसे पैरों में लंबे जूते, सिर पर मुकुट, हाथों में खिले हुए पद्म पुष्प, कानों में कर्णफूल इत्यादि। उल्लेखनीय है कि सूर्य को एक अश्व पर सवार दिखाया गया है जो प्रचलित अंकनों से भिन्न है। सूर्यदेव की प्रतिमा से जुड़ी अनेक विशेषताओं की चर्चा हम लेख में आगे करेंगे।

मोधेरा का सूर्यमंदिर, अहमदाबाद से 105 कि.मी. उत्तर-पश्चिम में स्थित है। इस मंदिर का निर्माण सोलंकी वंश के राजा भीमदेव प्रथम ने 1026 ई. में करवाया था। मंदिर का गर्भगृह पूर्वाभिमुख है एवं इस प्रकार से निर्मित है कि विषुवीय दिवसों यानि 21 मार्च एवं 23 सितम्बर को सूर्य की प्रथम किरणें, गर्भगृह में स्थापित सूर्यमूर्ति को आलोकित करती थीं। गर्भगृह की मूर्ति, दुर्भाग्य से अनुपलब्ध है पर मंदिर की बाह्य दीवारों पर सूर्य की अनेक मनोहारी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन सभी मूर्तियों में सूर्य को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ दिखाया गया है।

मंदिर के सामने एक विशाल सीढ़ीदार एवं आयताकार सूर्यकुंड है। इसकी विशेषता यह है कि इसकी दीवालों पर अलग-अलग स्तरों पर अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उकेरी गई हैं।

भुवनेश्वर से पचपन कि.मी. की दूरी पर कोणार्क का विशाल मंदिर परिसर स्थित है। सूर्य के बृहदरथ के रूप में आयोजित इस मंदिर में शिल्पकला एवं वास्तुकला की पराकाष्ठा देखने को मिलती

टोडा आदिवासियों के उपासना गृह पर अंकित सूर्य-चक्र

है। नरसिंहदेव द्वारा निर्मित इस मंदिर (रथ) में बारह विशाल चक्र एवं सात अश्व निर्मित हैं जो क्रमश: वर्ष के द्वादश माह एवं सप्त किरणों के प्रतीक हैं। कोणार्क के मंदिरों में सूर्य प्रतिमाओं के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। इनमें से एक प्रतिमा के मुख पर अद्‌भुत मुस्कान देखी जा सकती है। राष्ट्रीय संग्रहालय में स्थापित यह प्रतिमा नि:संदेह शिल्पकला के उत्कृष्टतम उदाहरणों में से है।

ऊपर उल्लिखित सूर्यमंदिरों के दर्शन के उपरांत यह निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि शिल्पकारों ने सूर्यप्रतिमा के साथ कई विशेषताओं को जोड़ा है। इन विशेषताओं का वर्णन मुख्यत: पुराणों, आगमों एवं शिल्पशास्त्रों में देखा जा सकता है।

इन वर्णनों के अनुसार सूर्य को कहीं चतुर्भुज तो कभी दो भुजाओं सहित दर्शाया जाता है। वे दो भुजाओं में खिले हुए कमल के पुष्प धारण करते हैं। चतुर्भुज मूर्तियों की अन्य दो भुजाएँ वरद एवं अभय मुद्रा में होती हैं। सिर पर मुकुट, कानों में कर्णफूल इत्यादि द्वारा मूर्ति का अलंकरण किया जाता है।

ऐसी मान्यता है कि सूर्य के चरणों की कल्पना नहीं करनी चाहिए। उल्लेखनीय है कि सूर्य के प्रारंभिक चित्रांकनों जैसे भज की गुफाओं (पुणे, महाराष्ट्र) एवं खण्डगिरि (उड़ीसा) में, उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया गया कि उनके पैर रथ के पीछे छुपे रहें। कुषाण काल के प्रभाव के उपरांत उन्हें लंबे जूतों से सुसज्जित दिखाया गया। मार्तण्ड, मोघेरा एवं कोणार्क, सभी मंदिरों में ऐसी ही मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

सूर्य को सदैव अश्व या अश्वों से जुते हुए रथ पर सवार दिखाया जाता है। सात अश्वों का रथ, जिसके उदाहरण मोघेरा एवं कोणार्क में मिलते हैं, सबसे ज्यादा प्रचलित हैं। भज की गुफाओं में सूर्य को उषा एवं प्रत्यूषा के साथ चार अश्वों वाले रथ पर सवार दिखाया गया है। उल्लेखनीय है कि मार्तण्ड एवं कोणार्क में उन्हें बिना रथ के, एक अश्व पर सवार दिखाया गया है।

सूर्य रथ का संचालन अरुण करते हैं जो गरुड़ के भ्राता हैं। खड्गधारी दण्डिन जो अंधकार से निरंतर युद्धरत रहते हैं एवं कलम-दवात धारी पिंगल सूर्य के सहचर के रूप में उत्कीर्ण किये जाते हैं।

सामान्यतया रथ एक चक्रीय होता है। यह चक्र सूर्य की निरंतर गतिशीलता का द्योतक है एवं कई विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रारंभिक समय में बुद्ध के निरूपण के लिए प्रयुक्त हुआ।

जहाँ परिष्कृत, रुचिसंपन्न एवं सुसंस्कृत विद्वानों ने सूर्यप्रतिमा की परिकल्पना कई विशेष गुणों के साथ की वहीं समाज के साधारण वर्ग ने सीधी-सरल रीति अपनाई।

तमिलनाडु के ऊटी में टोडा आदिवासियों के उपासनाकुटीर पर सूर्य को चिरपरिचित चक्र के रूप में अंकित किया गया है। उत्तर भारत में सरल लोकगीतों द्वारा सूर्य की आराधना की जाती है :

'आदितनाथ तू हमरा सहाय होरषु ना'
(हे सूर्य आप हमारी मदद कीजिए)

संदर्भ : 1. ऑइक्नोग्राफिकल स्टडी ऑफ द इण्डियन सन गॉड, दुर्गा प्रसाद पाण्डेय
2. पाण्डरेपन, अवन्तिपुर एण्ड मार्तण्ड, देबाला मित्रा
3. कोणार्क, देबाला मित्रा।

- राजेश कुमार सिंह
अवर सचिव, भारी उद्योग मंत्रालय, उद्योग भवन, नई दिल्ली
091-11-23063189

CMYK # 11

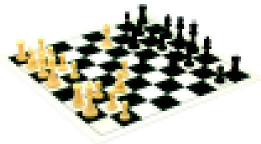

हमारी भाषा और संस्कृति पर शतरंज का प्रभाव

डॉ० परमानंद पांचाल

बहुधा सुनने को मिलता है – 'उसकी बिसात ही क्या है जो मुझे ''मात'' दे दे?', 'यदि उसने तनिक भी ''बुर्दबारी'' से काम लिया होता तो यह नौबत न आती।', 'उसे अवश्य किसी की ''शह'' है, नहीं तो वह ऐसी ''चाल न चलता''।', 'आखिर वह ''बाज़ी मार ही गया''।', वह भी किसी का ''मोहरा'' बन गया है।', 'अब उसका ''रुख'' किधर को है?' आदि, आदि।

"अधिकांश मुहावरे और लोकोक्तियां अपने कलेवर में एक युगीन संस्कृति और इतिहास को छिपाए रहते हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हमें विरासत में मिलते रहते हैं, जिनका प्रयोग हम सर्वमान्य सत्य के रूप में करते हैं। समय गुज़र जाता है, किन्तु मुहावरे अतीत की अनुभूतियों को परोक्ष रूप से व्यक्त करते रहते हैं।"

आखिर हमारे जन-जीवन में इस प्रकार की शब्दावली और ऐसे मुहावरे कहां से आए? निश्चय ही इसके पीछे हमारा हज़ारों वर्ष का इतिहास और संस्कृति रही है। भाषा में किसी भी मुहावरे अथवा लोकोक्ति का जन्म अथवा प्रचलन समाज के अधिकांश लोगों द्वारा एक सी अनुभूति के लिए लम्बे समय में समान शब्दों और वाक्यांशों के प्रयोग से होता है। सार्वजनिक रूप से निरंतर अनुभूत घटना को दृष्टान्त के रूप में थोड़े शब्दों में व्यक्त करने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग होने लगता है, जो पृष्ठ-भूमि के रूप में किसी घटना अथवा कहानी को व्यक्त कर देते हैं। इससे समय और शब्दों की बचत होती है।

इस प्रकार अधिकांश मुहावरे और लोकोक्तियां अपने कलेवर में एक युगीन संस्कृति और इतिहास को छिपाए रहते हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हमें विरासत में मिलते रहते हैं, जिनका प्रयोग हम सर्वमान्य सत्य के रूप में करते हैं। समय गुज़र जाता है, किन्तु मुहावरे अतीत की अनुभूतियों को परोक्ष रूप से व्यक्त करते रहते हैं। यही बात ऊपर व्यक्त ''बुर्दबारी'', ''शह देना'', ''बिसात होना'', ''बाज़ी मारना'', ''मात देना'', ''चाल चलना'', ''रुख करना'', ''मोहरा बनाना'' आदि जैसे मुहावरों और शब्दों से प्रकट होती है, जिन का सम्बन्ध शतरंज के खेल से रहा है। इससे पता चलता है कि हमारे देश में शतरंज कितना लोकप्रिय खेल रहा है, जिससे हमारी भाषा में इतने अधिक शब्द और मुहावरे आ गए हैं। कुछ शब्द तो हमारे दैनिक जीवन, हमारी बोल-चाल में इतने रच-पच गये हैं कि हमें अहसास ही नहीं होता कि ये शब्द शतरंज के खेल से उद्भुत हैं।

शतरंज के इतिहास पर ध्यान देने से पता चलता है कि यह एक प्राचीन और विश्वव्यापी खेल है, जिसके आविष्कार का श्रेय भारत को ही है। इस खेल की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। एक किंवदन्ती है कि इस खेल का आविष्कार लंका के राजा रावण की रानी मन्दोदरी ने इस उद्देश्य से किया था कि उसका पति रावण अपना सारा समय युद्ध में व्यतीत न कर सके। एक पौराणिक मत यह भी है कि रावण के पुत्र मेघनाथ की पत्नी ने इस खेल का प्रारंभ किया था।

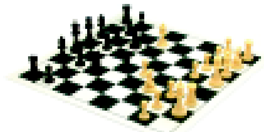

वास्तविकता कुछ भी हो, किन्तु यह सत्य है कि इस खेल का प्रारंभ प्राचीन काल में भारत में हुआ था। सर विलियम जोन्स ने 1790 में एशियाटिक रिसर्च में अपने लेख में लिखा है कि हिन्दुस्तान ही शतरंज का पालना था। भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम इसका उल्लेख सातवीं शती के सुबन्धु रचित ''वासवदत्ता'' नामक संस्कृत ग्रंथ में मिलता है। बाणभट्ट रचित ''हर्ष चरित्र'' में भी ''चतुरंग'' नाम से इस खेल का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह एक राजसी खेल था और मनोरंजन के साथ-साथ इसमें विज्ञान और कला का भी समावेश था। बुद्धि एवं विवेक पर आधारित होने के कारण इससे मनोविनोद के साथ-साथ बुद्धि का विकास भी होता था। प्राचीन काल में इसे 'चतुरंग' अर्थात् सेना का खेल कहा जाता था। चतुरंग (सेना) में चार अंग होते थे-पैदल, अश्वारोही, रथ और गज। इसीलिए इस खेल के नियम बहुत कुछ युद्ध जैसी प्रथा पर आधारित हैं। भारत से यह खेल धीरे-धीरे पड़ौसी देशों में पहुंचा। पहले यह ईरान गया। मध्य युग में इस्लाम धर्म के उत्थान के साथ यह खेल पश्चिमी एशिया के देशों, विशेषकर अरब देशों में पहुंचा। ख़लीफाओं के शासन में यह खूब लोकप्रिय हुआ। वहीं से यह यूरोप के देशों में पहुंचा। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार शतरंज की उत्पत्ति भारत में हुई और वहीं से चलकर यह पश्चिम में 7वीं सदी में अपने रूप में पहुंचा था। फारसी भाषा में इसका प्रयोग ''शतरंग'' नाम से हुआ, जो विकृत होकर अरबी में 'शतरंज' हो गया। अमीर खुसरो भी इसे भारत का आविष्कार मानते थे। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नूह-सिपहर' के तीसरे अध्याय में वे लिखते हैं -

'हुज्जते-शश बाजिए-शतरंज शनव
रज कह अज सीनेह बरदरंज शनव।'

अर्थात् छटी दलील 'शतरंज का खेल' है जो अत्यंत रोचक है। यह भी हिन्दोस्तान की देन है।

“इस खेल का प्रारंभ प्राचीन काल में भारत में हुआ था। सर विलियम जोन्स ने 1790 में एशियाटिक रिसर्च में अपने लेख में लिखा है कि हिन्दुस्तान ही शतरंज का पालना था। भारतीय साहित्य में सर्व प्रथम इसका उल्लेख सातवीं शती के सुबन्धु रचित ''वासवदत्ता'' नामक संस्कृत ग्रंथ में मिलता है।”

मुग़लकाल में भारत में इसका विशेष प्रचलन हुआ। मुगल बादशाहों ने इसमें विशेष रुचि दिखाई। प्रसिद्ध है कि मुग़ल बादशाह इस खेल में सजीवता लाने के लिए प्यादे, फर्जी और ऊँट आदि को वास्तविक रूप में शतरंज की बिसात पर लाते थे। वे सजीव मोहरों का प्रयोग भी करते थे। जो बेहद कौतुहलपूर्ण और दर्शनीय होता था। शाही परिवारों, नवाबों और मनसबदारों तथा सैनिकों में यह खूब लोकप्रिय हुआ। फलतः जनसाधारण के लिए यह मनोरंजन का साधन बना। इसी कारण से इसका प्रभाव भारतीय जनजीवन और भाषा पर भी पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप हमारी भाषा में भी इस खेल से संबंधित अनेक मुहावरों और शब्दों का समावेश हो गया, जो आज भी प्रचलित हैं। इनमें से कुछ शब्दों तथा मुहावरों का उल्लेख यहां किया जा सकता है -

शतरंज के खेल में विभिन्न आकृतियों के दो रंगों के लकड़ी आदि के मोहरे होते हैं। एक काले और दूसरे सफेद, जो संख्या में 16-16 होते हैं। एक पक्ष में 16 मोहरों में एक बादशाह, एक फर्जी (वज़ीर), दो रुख (हाथी), दो ऊँट (फ़ीलें), दो घोड़े और 8 प्यादे होते हैं। सारा खेल इन्हीं मोहरों की चाल पर निर्भर करता है। मोहरे चूंकि बेबस होते हैं और इनका चालक कोई और होता है, इसीलिए हमारी भाषा में किसी का ''मोहरा बनना'' मुहावरा आ गया। हम सब 'शतरंज के मोहरे' हैं। कपड़े आदि के जिस चौकोर टुकड़े पर शतरंज खेली जाती है, उसे ''बिसात'' कहते हैं। इसी शब्द से ''बिसात होना'' मुहावरा आया। जैसे 'उसकी बिसात ही क्या है, जो इतना बड़ा काम करता।' उर्दू के प्रसिद्ध कवि ''ज़ौक' ने एक शेर में इस शब्द को लेकर कितना सुन्दर रूपक अलंकार प्रस्तुत किया है-

''कम होंगे इस 'बिसात' पे मुझ जैसे बदक़ुमार।
जो 'चाल' हम चले, सो निहायत बुरी चले।।''

सामान्य रूप से काम आने वाली छोटी-मोटी चीजों को कपड़े बिछाकर बेचने वाले को भी इसीलिए ''बिसाती'' कहते

हैं। सब जानते हैं कि वह “बिसात-खाने” की सभी चीजें रखता है।

विभिन्न रंगों की सूत की दरी को “शतरंजी” कहा जाता है, जो बहुधा विवाह -शादियों और अन्य उत्सवों में बिछाई जाती है। इसकी व्युत्पत्ति भी शतरंज खेल से हुई है। ऐसी दरी पहले शतरंज के खेल में प्रयुक्त होती थी। बाद में सामान्य रंगबिरंगी बड़ी दरियां भी “शतरंजी” कहलाने लगी।

शतरंज का एक बार का खेल “बाज़ी” कहलाता है। इससे अनेक मुहावरों और शब्दों को जन्म मिला है, जैसे - “बाज़ी मारना” (विजयी होना), “बाज़ी लगाना” (शर्त लगाना), “बाज़ीगर / बाज़िन्द” (चालक, खिलाड़ी), “बाज़ी-चह” (खिलौना) आदि। मिर्जा ग़ालिब ने भी कहा था -

“बाज़ी-चहे-इतफाल है दुनिया मेरे आगे
होता है शबो-रोज़ तमाशा मेरे आगे।”

“चाल चलना” (तरकीब निकालना) भी इसी खेल से उद्भूत मुहावरा है, जिसका सर्वत्र प्रयोग होता है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि नीरज ने कहा है -

खत्म हुआ कुछ इस तरह से ज़िन्दगी का यह सफर,

चाल चलती गई, गोट पिटती रही।

इसी प्रकार : ‘चाल में आना’ (धोखे में आना), ‘चाल पर पड़ना’ (युक्ति विफल होना) भी इसी खेल से उद्भूत मुहावरे हैं। ‘चालबाज़’ भला किसको धोखा नहीं देता। शतरंज के खेल में यदि बादशाह पर विरोधी खिलाड़ी का कोई मोहरा जद दे, तो कहा जाता है कि बादशाह को ‘शह’ पड़ी है। इसी से यह मुहावरा भी आया है “मात देना” अर्थात् परास्त कर देना। जैसे- आपने तो सभी को मात दे दी। अबकी बार वह ‘मात खा’ गया आदि मुहावरों का स्रोत भी यही खेल है।

“बुर्दबारी” का अर्थ है- सहनशीलता, गंभीरता। यह शब्द “बुर्द” से बना है। जिसका अर्थ शतरंज की वह बाज़ी है, जिसमें आधी ‘मात’ मानी जाती है और हारने वाले के पास बादशाह के सिवाय कोई मोहरा नहीं रहता।

“शातिर” का उद्गम भी इसी खेल से हुआ है, जिसका अर्थ चालाक और काइयां है। मूल रूप में शतरंज के दक्ष खिलाड़ी को ‘शातिर’ कहा जाता था। इसी प्रकार कुछ और शब्द जैसे “ज़द” (चोट) रुख, ऐराव आदि भी इसी खेल से संबंधि त हैं।

शतरंज में “प्यादा” सीधा चलता है और “फर्ज़ी” टेढ़ा भी चल सकता है इसलिए हिंदी के प्रसिद्ध कवि रहीम ने तत्कालीन समाज में शायद पदोन्नति पर होने वाली ऐंठ को व्यक्त करने के लिए इसका सुन्दर प्रयोग किया था-

“प्यादे से फर्ज़ी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाए।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय जन-जीवन और भाषा पर शतरंज के खेल की अमिट छाप विद्यमान है। हिन्दी में अनेक मुहावरों और प्रयुक्तियों का जन्म इसी के आधार पर हुआ था।

- डॉ० परमानंद पांचाल,
232 ए, पॉकेट1,
मयूर विहार,
दिल्ली-110091

डॉ० अनामिका पाठक

जूता भी बयां करता है बदलते समय की कहानी

सिन्ड्रेला की प्रसिद्ध लोक कथा लगभग हर व्यक्ति ने सुनी होगी जिसमें सिन्ड्रेला नाम की एक गरीब लड़की का जीवन बदल जाता है सिर्फ एक जूते की वजह से। जूते ने दासी सा जीवन व्यतीत करने वाली सिन्ड्रेला को रानी तो बनाया यूरोप की लोक-कथा में और स्वयं उसके दिन फिरे भारत के त्रेता युग में, जब उसकी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रतीक के रूप में पूजा हुई और वह भी अयोध्या के राजकुमार भरत के द्वारा। उपनाह, पादुका, पाद, सेन्डिल, चप्पल, जूता, जूती, मोर्जरी जैसे कुछ बहुचर्चित नाम हैं जूते के जिनका उल्लेख भारतीय साहित्य में हमेशा हुआ है। सिक्कों, मूर्तिकला और लघुचित्रों में प्रायः इनका अंकन भी देखने को मिलता है। उपनाह से बूट तक का सफर बहुत लंबा है और रोचक भी, आज यहां इसके कुछ अंश की चर्चा करेंगे।

> **"उपनाह, पादुका, पाद, सेन्डिल, चप्पल, जूता, जूती, मोर्जरी जैसे कुछ बहुचर्चित नाम हैं जूते के, जिनका उल्लेख भारतीय साहित्य में हमेशा हुआ है। सिक्कों, मूर्तिकला और लघुचित्रों में प्रायः इनका अंकन भी देखने को मिलता है। उपनाह से बूट तक का सफर बहुत लंबा है और रोचक भी"**

पाश्चात्य, मध्य एशिया आदि देशों से समय-समय पर भारतवर्ष में पर्यटक आते रहे हैं और अपने यात्रा वृत्तांतों में भारतवासियों के पहनावे, रीति-रिवाजों का अच्छा चित्रण भी किया है। बरथीमा नामक पुर्तगाली पर्यटक, जो सोलहवीं शती में भारत आए थे, ने अपने यात्रा वृत्तांत में एक स्थान पर लिखा है कि, ''भारतवासी सुन्दर कपड़े पहनते थे परंतु पैरों में कुछ नहीं पहनते थे।'' प्राचीन काल की कुछ मूर्तियों को देखने के पश्चात् यह बात कुछ हद तक सत्य प्रतीत होती भी है, परंतु इस सत्य का आधार यह कतई नहीं है कि भारतीयों को जूते बनाना नहीं आता था या पहनना नहीं आता था। बल्कि सत्य तो यह है कि जूते और उसके अनेकों नामों का संदर्भ वैदिक काल से लेकर बीसवीं शती तक के साहित्य में अविरल मिलता है। भारतीय देव-समूह में सूर्य देवता को छोड़कर किसी देवता को जूता पहने हुए प्रदर्शित नहीं किया गया है। देवता के सम्मुख नंगे पांव ही जाने की परंपरा आज भी विद्यमान है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य, जिसे देव आराधना की संज्ञा दी गई है, में भी नृतक नंगे पांव ही अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इन्हीं सब कारणों से प्राचीन मूर्तिकला में जूते का अंकन कम देखने को मिलता है।

यहां एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुरातात्विक साक्ष्य के विषय में चर्चा करना आवश्यक है जिसका संबंध जूता बनाने के औजार के रूप में है। सिन्धु सभ्यता के मोहनजोदड़ो, हड़प्पा जैसे स्थलों से कांस्य के औजार उत्खनन में निकले हैं। जिन्हें पुरातत्वशास्त्री cobler's tool "awl" कहते हैं। यद्यपि उस वक्त यह औजार किस काम में आता होगा यह निश्चित रूप से कह पाना तो कठिन है, फिर भी आज के संदर्भ में यदि देखें तो हम यह पाते हैं कि इस प्रकार के औजार को मोची जूते के दोनों हिस्सों (सोल एवं ऊपरी आवरण) को सिलने के लिए उपयोग में लाता है।

यजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद और पाणिनि साहित्य में 'उपनाह' एवं 'उपानत' शब्द का प्रयोग जूता अथवा सेंडिल के लिए हुआ है। वैदिक साहित्य में 'उपनाह' के अनेक प्रसंग मिलते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में जूता आम व्यक्ति के लिए भी उतना ही जरूरी था जितना विशिष्ट व्यक्ति के लिए। मृग या वाराह चर्म से निर्मित जूते को तो पूजा में पहन कर जाने की अनुमति थी।

महाभारत काल के 'उपानत' शब्द का प्रयोग जूते के लिए और 'खड़ाऊँ' अथवा 'पादुका' शब्द का इस्तेमाल सेंडिल के लिए हुआ। खड़ाऊँ सबसे आसान तरीके से पहने जाने वाला जूते का रूप है। इसमें पादुका के ऊपरी हिस्से में छोटा सा गोलाकार knob होता है जिसे अंगूठे और उसके पास वाली

जूते पहने युगल, 20वीं शती, उत्तरी भारत

अंगुली के बीच पहनकर आराम से चला जाता है।

बौद्ध और जैन साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि खड़ाऊँ एवं पादुका अनेक प्रकार की चीजों से बनाई जाती थीं जिसमें मूंज की घास, लकड़ी से लेकर कांस्य, पीतल, कांच, सोना और चांदी से बनी पादुकाएं भी थीं। बौद्ध साहित्य महावग्ग में चार प्रकार के जूतों के प्रचलन का जिक्र मिलता है जो कि इस प्रकार है : जूता जो एड़ी को ढके, पूरा पांव ढकने वाला जूता, जूता जो कि सूत एवं ऊन की padding के साथ होता है और तीतर के पंख के आकार का जूता अथवा बकरी, ram के सींगों से सुसज्जित जूता। जैन साहित्य, वृहत कल्पसूत्र भाष्य से यह पता चलता है कि गाय, भैंस, बकरी, भेड़ अथवा जंगली जानवर के चर्म से बने जूते का प्रचलन बहुत अधिक था और जैन साहित्य में साधु-साध्वियों को इन्हें पहनने की मनाही थी।

छठी-सातवीं शती में कन्नौज में राजा हर्षवर्धन के काल में पादुका पहनने का प्रचलन काफी लोकप्रिय था। ऐसा उनके समय में हुए कवि बाणभट्ट के साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है।

मध्ययुगीन साहित्य जैसे बाबरनामा, अकबरनामा, तुज़्के जहांगीरी, शाहजहांनामा, हमजानामा इत्यादि में चित्रित लघुचित्र में जूते का अंकन भी वेशभूषा जैसा विशिष्ट रूप से किया गया है। इन पुस्तकों में अंकित लघुचित्रों के अध्ययन से भांति-भांति के जूते देखने को मिलते हैं, जैसे कि पूरे पांव को ढके हुए, आधे पांव को ढके हुए, पीछे से

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

कश्मीरी कारीगर, कम्पनी शैली, कश्मीर, 19वीं शती, सभी के जूते एक स्थान पर हैं।

उठे हुए और बिना किसी तनी रहित जूते। सर थॉमस से जो जहांगीर के दरबार में आये थे उन्होंने अपने वर्णन में लिखा है कि राजा के जूते मोतियों से कढ़े हुए थे और उनके आगे का हिस्सा ऊपर की ओर उठा हुआ था। ऐसा माना जाता है कि उस प्रकार के जूते सलीम शाही जूते के नाम से उस काल में काफी लोकप्रिय हुए थे।

भारतीय साहित्य इस प्रकार के प्रसंगों से भरा हुआ है जिसका अंकन भी कला की विभिन्न विधाओं में देखने को मिलता है। पाद (पैर) में पहनने योग्य पादुका का भारतीय संदर्भ में सबसे प्राचीन उदाहरण चन्द्रकेतुगण (बंगाल) से खुदाई में मिला है जोकि लगभग 200 ई.पू. का है। एक पैर का ही यह सेंडिल केवल सीधे प्लेटफॉर्म के रूप में है जिसके दोनों तरफ छेद है। संभवतः किसी प्रकार की रस्सी की मदद से उसे पांव में बांधा जाता रहा होगा। सेंडिल के ऊपरी भाग पर बहुत सुन्दरता से गोलाकार फूल-पत्तीदार डिजाइनों को उकेरा गया है जो यह बताता है कि उस वक्त भी सेंडिल को सजाने का उतना ही चाव था जितना कि आज है।

'पादुका' या खड़ाऊं का प्रचलन शुरू से ही साधु के साथ जुड़ा मिलता है। चाहे वह लकड़ी की बनी हो अथवा हाथीदांत की। राष्ट्रीय संग्रहालय में संग्रहीत गांधार शैली की एक प्रस्तर मूर्ति में भगवान् बुद्ध को खड़ाऊं पहने दिखाया गया है। राम की पादुका को राम-का-सा सम्मान रामायण काल में मिला, जो सर्वविदित है। राष्ट्रीय संग्रहालय में संग्रहीत एक पहाड़ी शैली में बने लघुचित्र में अयोध्या कुमार भरत को रामपादुका की पूजा करते हुए दिखाया गया है। इस चित्र में भरत को चर्मशाल ओढ़े हुए साधु-जीवन व्यतीत करते हुए राम की पादुका की पूजा करते हुए दिखाया गया है। रामायण में इस पूरे प्रसंग की चर्चा करते हुए विस्तृत वर्णन कवि ने किया और उसी खूबसूरती

CMYK # 17

से कलाकार ने भी चित्रांकन किया। राम के वनवास से न लौटने के निश्चय पर भरत उनकी पादुका लेकर आए और स्वयं अयोध्या में न रहकर जंगल में साधु के समान तम्बू लगाकर रहने लगे थे जिसे कलाकार ने इस गुलेर शैली के लघुचित्र में बेहद खूबसूरती से दर्शाया है। दतिया-राजस्थान शैली के एक अन्य लघुचित्र में पूरे मान-सम्मान के साथ राम की पादुका की शोभायात्रा को चित्रकार ने प्रदर्शित किया है।

प्राचीन काल की मूर्तियों में जूते का अंकन सिवाए सूर्य प्रतिमा के और कहीं देखने को नहीं मिलता है। भारतीय देव-परिवार में सूर्य ही एकमात्र ऐसे देवता हैं जिन्हें जूता पहने हुए ही दिखाया गया है। सूर्य की गर्मी को स्वयं देवता भी नंगे पांव सहन नहीं कर पाते। संभवतः तभी सूर्य देवता को हमेशा जूते सहित ही प्रदर्शित किया गया है। यूं भी इन पर मध्य-एशिया अथवा शक शैली का प्रभाव देखने को मिलता है। कुषाण-कालीन कनिष्क की मूर्ति में उन्हें बूट पहने दिखाया गया है। ध्यान से देखने पर यह आभास होता है मानों उन्होंने गद्देदार जूते पहने हों।

शुंग एवं कुषाण-कालीन मूर्तियों में चप्पल और खड़ाऊं का अंकन प्रायः देखने को मिल जाता है। चप्पल में प्रायः 'वी' आकार की तनी सोल से सिली होती है और इस तनी को अंगूठे और उसके पास वाली अंगुली के बीच से पहना जाता है। गांधार शैली में बनी मैत्रेय एवं अवलोकितेश्वर की मूर्तियों में प्रायः उन्हें 'वी' आकार की तनी वाली चप्पल पहने दिखाया गया है।

लघुचित्र कला में जूता-जूती के अनेक प्रकार देखने को मिलते हैं। चाहे वे जैन शैली के चित्रों में अंकित खड़ाऊं हो अथवा बाबरकालीन चित्रों में अंकित पीछे से उठा हुआ जूता हो। जहांगीर एवं शाहजहांकालीन लघुचित्रों में राजा एवं राजकुमारों को स्लीपर के आकार के जूते पहने हुए दिखाया गया है जो कि सिख, राजपूत और बंगाल दरबार में पहुंचकर आगे से घुमावदार या नुकीले जूते के रूप में परिवर्तित हुआ। इस समय तक आते-आते एक अन्य जो सबसे बड़ा बदलाव देखने में आया वह है चमड़े के बने जूतों को सोने के तारों से सजाया जाना। एक मध्यकालीन कथा के अनुसार किसी अंधविश्वास की वजह से राजा को जूता सुंघाना था पर बात चूँकि राजा की थी तो कैसे जूता उन तक उठाया भी जाए जबकि राजा के सम्मान में तो लोग दरबार में नंगे पांव ही जाते हैं। बहुत सोच-विचार के पश्चात् चमड़े के जूते को सोने-चांदी के तारों के द्वारा 'जर-दोज़ी' के काम से सजाया गया और राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया जिसे राजा ने इतना पसंद किया कि उसके पश्चात् से राजा 'जर-दोज़ी' से कढ़ी हुई जूती एवं जूता पहनने लगे। कोई-कोई शौकीन राजा तो इन जूतों में हीरे-मोती भी लगवाते थे। ऐसा ही उदाहरण कनाडा के प्रसिद्ध बाटा संग्रहालय में संग्रहीत है जिसे हैदराबाद के निजाम ने विशेष रूप से सिंहासन पर बैठते समय पहनने के उद्देश्य से बनवाया था। सोने के तारों से सजा यह जूता हीरे-मोती एवं माणिक से सजाया गया है।

पादुका, चप्पल हो अथवा जूता हो जिन्हें पहन कर व्यक्ति सहजता से एवं आराम से चले वह निस्संदेह ही कारीगरों की कुशलता को ही परिलक्षित करता है। आज जब कि जूते बनाने का ज्यादातर काम मशीनों के द्वारा किया जाने लगा है, इन हस्तनिर्मित पादुकाओं की सुन्दरता एवं सहजता देखते ही बनती है जोकि आज प्रायः संग्रहालयों की शोभा बनती जा रही है।

– डा॰ अनामिका पाठक,
उपसंग्रहाध्यक्ष (सुसज्जा कलाएं),
राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ, नई दिल्ली।

संचेतना – जून, 2006

कुछ पत्रिकाओं के नये अंक

'संचेतना' के अंक 168 (सितम्बर 2004) में अपने इस स्तंभ में मैंने लिखा था कि भारत में सरकारी पत्रिकाओं के प्रकाशन की एक परंपरा रही है परन्तु यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि सरकारी पत्रिकाओं को साहित्यिक चर्चाओं में गंभीरता से नहीं लिया जाता। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय की 'संस्कृति' नाम से ही प्रकाशित पत्रिका आज पाठकों, रचनाकारों के बीच आकर्षण का केन्द्र है। मौलाना आजाद रोड, नई दिल्ली से अर्द्धवार्षिक रूप से प्रकाशित इस पत्रिका का दसवां अंक अभी प्रकाशित हुआ है जिसे देखकर विश्वास करना कठिन है कि यह एक सरकारी पत्रिका है। भारत के विशिष्ट चित्रकारों के.के. हैब्बर, तैयब मेहता, जेमिनी राय, एम.एफ. हुसैन तथा नीना रंजन के रंगीन चित्रों से सज्जित इस पत्रिका का आकर्षण इसकी रचनाएं भी हैं। भारतीय कला, संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना से विश्व को परिचित कराना इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है। 'आधुनिक भारत : परम्परा और भविष्य' (शीला गुजराल), 'कथा-संस्कृति : वैश्विक परिदृश्य' (कमलेश्वर), 'मानव संस्कृति को भारत का अवदान (लोकेश चंद्र), 'कला जो कल भी रहेगी' (प्रयाग शुक्ल) 'भारत के आदिवासी : कला और लोक साहित्य' (राजेन्द्र अवस्थी) आदि लेखों को देखा जा सकता है। संपादक का मानना है- 'अपनी संस्कृति को प्रायोजित कर विदेशों में निर्यात करने की दौड़ में कहीं यह अपने ही घर में हाथ से फिसल तो नहीं रही? पांच हजार वर्षों से विरासत में मिली संस्कृति की समृद्धि के संग्रहालय की कला वस्तु बनने से पहले उसे पूरे वैभव के साथ भावी पीढ़ी को सौंपना होगा।'

डॉ० सरोज चमन

फुलकारी – पंजाबियों की पहचान

पंजाब भारत का प्रमुख राज्य है। यहाँ की जमीन उपजाऊ होने के कारण लोग अधिकतर खेती करते हैं और गांवों में रहते हैं। यहाँ की संस्कृति समृद्ध है और एक अलग पहचान बनाये हुए है। एक झलक, अगर प्राचीन पंजाब के ऊपर डालें तो गाँव यहाँ अपने आप में एक सम्पूर्ण इकाई दिखाई देगा। इन गाँवों में जितनी भी जातियाँ रहती थीं उनकी एक निश्चित भूमिका होती थी और सभी का योगदान सारे गाँव के विकास में होता था। एक जाति के लोग एक मुहल्ले या गली में इकट्ठे रहते थे और उन्हीं के नाम से उन्हें बुलाया जाता था। आम तौर पर गांव के मध्य में बड़े जमींदार का घर होता था जिसका सारे गाँव के ऊपर दबदबा रहता था। इनके घर जट्टां के घरों के नाम से जाने जाते थे। इनके घरों को जाने वाले रास्ते भी खुले और चौड़े होते थे ताकि पशु, रथ, गड़ा आदि आसानी से निकल सकें। घरों के बड़े-बड़े दरवाजे, खुला आंगन, बड़े-बड़े कमरे और 'चुब्बारा' उन की शान-शौकत का प्रतीक होता। लुहारों और बड़ईयों (तरखानों) के बिना इनका काम नहीं चलता था। खेती के सारे औजार और घर की इस्तेमाल होने वाली वस्तुएँ यही बनाते थे। गाँव के शुरू में ही इन लोगों के घर होते थे जिनको बढ़ई और लोहारों के घर कहा जाता था। इसी तरह नाई, घुमियार, चमारों और छोटी जाति के लोगों के घर गाँव के बाहर वाले भाग में ही बनाये जाते थे। बनिया जाति भी जमींदारों के साथ ही रखी जाती थी क्योंकि पैसे का लेन-देन उन्हीं के हाथों में था।

पंजाब की औरत की सृजना और कल्पना भी अपने-आप में विशिष्ट है। उन्हीं के बनाये गये घरों से ऊँची संस्कृति और सभ्यता की झलक मिलती है। प्राचीन समय में वह अपने घर को ही स्वर्ग समझती थी, यह उनका मदरसा था। उनका पहला पाठ माँ की गोद में बैठकर आटे की चिड़िया बनाने से शुरू होता था। माँ उसी आटे से भाई के लिए शकर और देसी घी डाल कर सूखे आटे की एक चिड़िया बनाती थी। यहीं से उसके मन में अपना स्थान पता चल जाता था। थोड़ा बड़ा

फुलकारी का नमूना

होने पर माँ उसे 'गुड्डा-गुड़िया' बनाना सिखाती, जिसके साथ वह सहेलियों के साथ खेलती। दर्जी की दुकान से अलग-अलग कपड़ों की कतरनें इकट्ठी करके 'गुड्डे-गुड़ियाँ' बनाई जातीं। इनकी आँखें काले धागे के साथ दो सीधे तरोपे लगा कर, नाक सीधे टंके के साथ, दो सीधे तरोपे लाल रंग के साथ मुँह का आकार बना देते। घघरा और कुरती डाल कर और सिर के ऊपर काले धागे के साथ बाल बना कर लगा दिए जाते और सिर को दुपट्टे से ढक दिया जाता। इसी तरह पंजाबी पोशाक में पुरुष बनाया जाता। यह उसकी आने वाली जिन्दगी का अध्याय था। नौजवान होते ही वह माँ के घर के काम में हाथ बंटाती और आने वाली नई जिन्दगी की तैयारियाँ शुरू करती। दोपहर के समय मुहल्ले की लड़कियाँ इकट्ठी होकर वस्तुओं पर कढ़ाई करतीं, दरियाँ बुनतीं आदि। यह समय पंजाब की नौजवान स्त्री का बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता था। एक दूसरे की आंतरिक भावनाओं को समझना, मिल-जुल कर बैठना और दुःख दर्द बांटना ही 'त्रिजन' का मुख्य विषय होता था। नई-नई दुल्हनों के चाव, दूर रोजगार पर गये पति का वियोग, प्रेम ग्रसित मन की हालत, भाई-बहन का बिछड़ना आदि मन की आवाजें यहीं पर सुनी जाती थीं।

फुलकारी

पंजाब की फुलकारी भी ऐसे ही पलों की सृजना है जिसे औरत का दुर्लभ खजाना कहा जाता है। यह फुलकारी आम तौर पर यहाँ के लोगों के जीवन का अटूट अंग है जिसे आजकल भी शादी के शगुनों में इस्तेमाल किये बिना रिवाज अधूरा रह जाता है। प्राचीन दिनों में तो फुलकारी के द्वारा ही किसी औरत और लड़की की सूझ का माप-तोल होता था। 'चोप दी चिड़ी' बनाने वाली औरत को मुखिया का दर्जा तक दे दिया जाता था। फुलकारी पंजाब की स्त्री के प्राण कहलाती है। कपास के बीजने, पकने, चुनने, पिंजने, पुनियाँ और चर्खे पर कातना, गिलोटे बनाना, रंगाई, जुलाहे के हाथों कपड़ा बुनना और फिर कढ़ाई के लिए तैयार आदि प्रक्रिया बहुत महत्वपूर्ण होती है। फुलकारी खाद्दर पर निकाली जाती है जिसको गाढ़े लाल रंग से रंगा जाता है।

कढ़ाई के लिए धागे रेशम के होते हैं जिनको 'पट्ट' कहा जाता था और यह ईरान से मंगवाये जाते थे। आम तौर पर इनका रंग पीला, लाल,

" पंजाब की औरत की सृजना और कल्पना भी अपने-आप में विशिष्ट है। उन्हीं के बनाये गये घरों से ऊँची संस्कृति और सभ्यता की झलक मिलती है। प्राचीन समय में वह अपने घर को ही स्वर्ग समझती थी, यह उनका मदरसा था। उनका पहला पाठ माँ की गोद में बैठकर आटे की चिड़िया बनाने से शुरू होता था। "

हरा, बादामी आदि होता था और इनमें काला तथा नीला 'नजर बूटी' के रूप में इस्तेमाल किया जाता था और इनको अशुभ माना जाता था। फुलकारी में उन सभी चमकीले रंगों का प्रयोग होता था जिनका मनुष्य की भावनाओं से गहरा सम्बन्ध होता था, विशेषकर जो उन के हृदय को खुशी देते थे। बारीक सुई गाँव में मुनिआरी का सामान लाने वाला ही लाता था। फुलकारी में बड़े-बड़े 'तरोपे' तथा टांके को लगाया जाता था।

लड़की के जन्म से ही उसकी नानी फुलकारी निकालना शुरू कर देती थी क्योंकि इसको रोसा करना शुभ माना जाता था। इस फुलकारी को वह बहुत ही मन से उसकी शादी के लिए तैयार करती थी। फुलकारी शुभ-इच्छाओं का तोहफा होता था। 'त्रिंजण' में बैठकर जब सहेलियाँ फुलकारियाँ निकालतीं तो पता नहीं उन के मन में कैसे-कैसे विचार रूप धारण करते जिनको वह विभिन्न रूपों में रूपमान करतीं।

फुलकारी में बनाये जाने वाले विष्ट वह चारों ओर फैले ब्रह्मांड में से चुनती। उसके आसपास जो कुछ भी उसे प्रभावित करता वह सूई-धागे के साथ फुलकारी में पिरो देती। घर की महत्वपूर्ण वस्तुएँ जैसे दूध निकालने वाला बर्तन, मक्खन रगड़ने वाली मथानी और घड़ा, चूल्हा, चिमटा, तवा, गिलास, थाली आदि, घर के पशु-पक्षी जैसे मुर्गे-मुर्गियाँ, चिड़ियाँ, तोते, कौए, मोर, हंस, घुग्गी, तीतर, बटेर आदि तथा पशु जैसे गाय, भैंस, भेड़, ऊँट आदि घर के आँगन में छाया देते हरे-हरे वृक्ष जैसे पीपल, नीम, कीकर, टाहली आदि बहुत ही प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त सूर्य, तारे, ग्रह, पानी आदि भी पूरी मेहनत से निकाले जाते। घर की जमीन पर उगी सब्जियाँ जैसे बैंगन, मिर्च, आलू, गोभी, तोरी, पेठा, करेला, टमाटर, फलों में आम, संतरे, बेर, नाशपाती, अनार, खरबूजा, छुहारे, बार-बार विषय के रूप में उभरते हैं। फूलों में सूर्यमुखी, कमल, गेंदा, गुलाब, जैसमीन, खुलखैरा, बूटियाँ आदि प्रचलित थे। गाँव के तालाब में पाये जाने वाली मछलियाँ, साँप, कछुए, डड्डू और किरलियाँ आदि भी फुलकारी में अपना विशेष स्थान घेर लेते थे।

पंजाब की औरतें अपने हार-श्रृंगार के लिए मानी जाती हैं, वह अधिकतर सोने के गहने पहनती हैं जिनको फुलकारियों में भी देखा जाता है। उनके सिर का गहना सगी-फूल, सूई, झूमर सुई, गुलूबन्द, परीबन्द, घड़ी-चूड़ी, टीका, श्रृंगार पट्टी, कंगन, नथ, मदली चूड़ियाँ, झाँझर आदि पीले और सफेद रेशमी धागे से निकाले जाते थे।

फुलकारी का नाम उन के ऊपर बने नमूने के अनुसार होता था। एक विशेष तरह की फुलकारी 'चोप' कहलाती थी जिस को नानी शादी पर तोहफे के रूप में देना शुभ समझती थीं। इस तरह की फुलकारी का साईज़ बड़ा होता था ताकि सारा शरीर अच्छी तरह से ढक जाए। खास तरह का नमूना जिस को त्रिकोरा जोड़-जोड़ कर बनाया जाता था और दुहरे टांके के साथ उस पर पैटर्न को दोनों तरफ से एक सा दिखाई देने वाला यह टांका महारत का प्रतीक था। ऐसी फुलकारी का बीच का सारा हिस्सा खाली छोड़ दिया जाता था और पल्लों पर चारों ओर चोप कढ़ाई की जाती थी। इनमें एक दूसरे के साथ मिलती त्रिकोण, पिरामिड अनगिनत अमूर्त आकार फुलकारी को अर्थ प्रदान करते थे। 'सुभर' एक और किस्म की नई फुलकारी थे जिस के मध्य भाग में 'पाँच मोटिफ' जो सिर के ऊपर आते थे और चारों किनारों पर उनको दोहराया जाता था। लाल धरातल के ऊपर पीले रेशमी धागे के साथ यह खूब उभरता था और नई दुल्हन की खास सौगात होता था।

एक अन्य किस्म की

> "पंजाब की फुलकारी भी ऐसे ही पलों की सृजना है जिसे औरत का दुर्लभ खजाना कहा जाता है। यह फुलकारी आम तौर पर यहाँ के लोगों के जीवन का अटूट अंग है जिसे आजकल भी शादी के शगुनों में इस्तेमाल किये बिना रिवाज अधूरा रह जाता है। प्राचीन दिनों में तो फुलकारी के द्वारा ही किसी औरत और लड़की की सूझ का माप-तोल होता था। 'चोप दी चिड़ी' बनाने वाली औरत को मुखिया का दर्जा तक दे दिया जाता था।"

फुलकारी जिसे 'थिरमा' कहा जाता था और यह रावलपिंडी, हजारा आदि स्थानों पर बहुत ही प्रिय थी। इसका धरातल सफेद परन्तु कढ़ाई लाल, हरे और पीले रंगों से की जाती थी। यह फुलकारी भी शादी के दहेज में अपना ऊँचा स्थान रखती थी।

साँची नाम की फुलकारियाँ सामाजिक और सांस्कृतिक दस्तावेज होती थीं। गाँव में रहने वाले लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले विषय को उभार दिया जाता था। पंजाब के मालवा क्षेत्र में ऐसी फुलकारियों का खास महत्व था। सिर्फ यही एक ऐसी फुलकारी है जिसमें काली स्याही से नमूने ट्रेस करके बाहरी सीमाएं डारनिंग टांके के साथ भरी जाती थीं। औरत जैसे समाज, जाति में रहती थी वैसे ही इस प्रकार की फुलकारी पर लिख देती थीं।

गाँव में लोगों का जीवन सुबह होने से पहले ही शुरू हो जाता था। किसान का खेतों के लिए हल का जोतना, बैलों के गले में घंटियाँ और पीठ ढकने के लिए कढ़ाई वाला सुन्दर कपड़ा जिसे 'झुल्ल' कहते थे, घर की औरतों का सुबह-सुबह दूध मथना और मक्खन निकालना, चौका-चूल्हा संवारना, कुँए से पानी भरना, चक्की से अनाज पीसना, भोजन तैयार करके खेतों में पति को खाना देने जाना, सूर्य ढलते ही पशुओं के लिए ओखली में दाना कूटना, चारपाई बिछाना, दोपहर को काम-काज खत्म करके त्रिंजणा बैठना, चर्खे कातना, दरियाँ बुनना, खड्डी पर कपड़ा बुनना, सूत की गेंद बनाना, फसलों के काटने के बाद फुर्सत में पुरुषों का 'त्रिवेणी' में बैठना और अन्य काम करना जैसे सूत बाटना, पशुओं के लिए छिकली बनाना, ताश खेलना, मल्लयुद्ध करना, गप्पें हांकना आदि। इन्हीं दिनों में तरह-तरह के मनोरंजन जैसे गाँव में भालू का तमाशा, बन्दर का खेल, बाजियाँ पाना, बाजीगरनियों का गीत सुनना, कबड्डी खेलना, बलवानों की करामातें आदि के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कहानी-किस्से भी देखे जा सकते हैं।

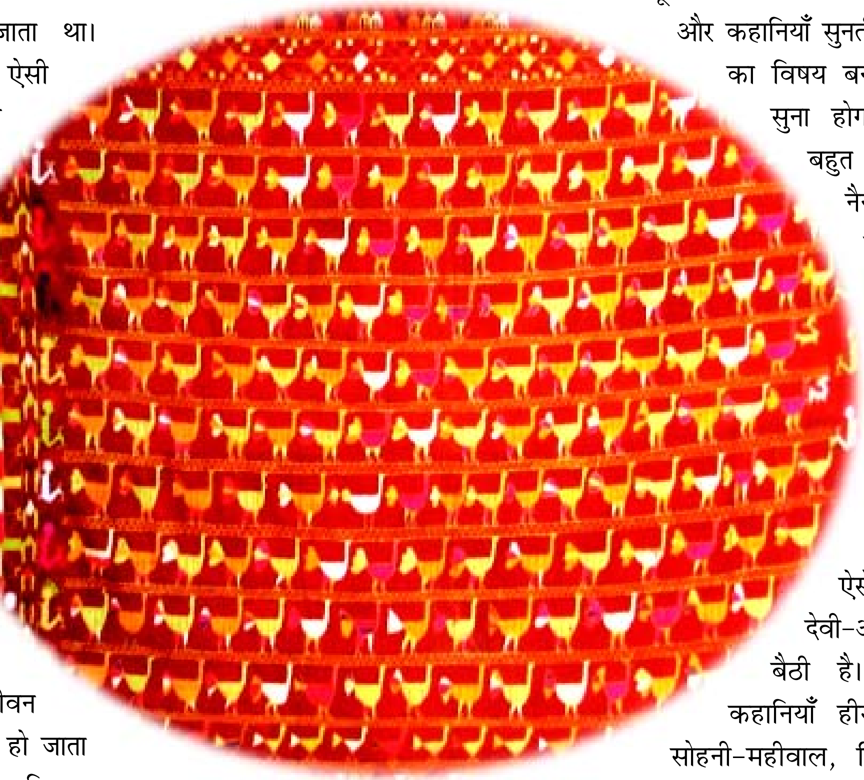

फुलकारी

ऐसी फुलकारियों में औरतों के अपने सपने, उनकी दबी-घुटी इच्छाएं, चेतन और अर्धचेतन में बनती आकृतियाँ फुलकारी पर ही सम्पूर्ण रूप लेती थीं। वह जो लोक गाथाएं और कहानियाँ सुनती थीं उन्हें फुलकारी का विषय बना देती। जैसे उसने सुना होगा कि 'माता देवी बहुत सुंदर है और उसके नैन-नक्श उतारे नहीं जा सकते, ऐसा करने पर पाप भी लगता है।' शायद ही ऐसी फुलकारी होगी जिसमें माता के नैन-नक्श हों। वह अमूर्त दिखाई जाती थी परन्तु गहनों को ऐसे रखा गया है जैसे देवी-आकृति उन्हें पहनकर बैठी है। पंजाब की प्रेम कहानियाँ हीर-रांझा, ससी-पुन्नू, सोहनी-महीवाल, मिर्जा-साहिबां आदि के विषय भी पुरानी साँची फुलकारियों में देखे जा सकते हैं। सीधे-सादे ढंग से जैसे वृक्ष के नीचे सो रहा मिर्जा और खड़ी घोड़ी या फिर साहिबां का कुएँ में तीर तोड़ कर फेंकना आदि से सारी गाथा सामने आ जाती है। अनंत किस्म के भाव इन आकृतियों में भरे हुए महसूस होते हैं। मनुष्य का अहंकार, शारीरिक शक्ति, मानसिक तनाव, हँसी-मजाक के पल बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से निकाले दिखाई देते हैं। पति-पत्नी की सामाजिक परिस्थितियाँ, एक दूसरे के प्रति एकता का अहसास धागों के आकारों में फूटता है। कैसे पुरुष अपनी औरत की पिटाई करता है और कैसे गहरे तनावों में से गुजरता है, सजीवता से भरा विषय है।

प्राचीन पंजाब में लोग दैविक शक्ति में बहुत विश्वास करते थे जैसे देवी माँ पूजन, गुगा पूजन, वासड़, तीज, दशहरा, दीवाली, सांझी, होई माता, बढेरों की पूजा, नाग पूजा आदि। चौराहे पर दिए जला कर, पीपल पूजन, बाबा बोहड़ जैसे वृक्ष गाँव की बहुमूल्य धरोहर थे और वह मनुष्य के साथ कितने घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे वह फुलकारियों से ही मालूम हो जाता है। प्रत्येक माँ श्रवण जैसा बेटा चाहती है, आज्ञाकारी, बैंगी उठाए श्रवण की कृति भी बहुत प्रिय थी।

प्राचीन गाँवों में शिवालय विशेष पूजनीय स्थान था। यहाँ की औरत अच्छी तरह जानती थी कि शिव ही पारिवारिक देवता है जिस के पूजन से सारा घर समृद्ध रहता है। फुलकारियों में शिवलिंग या तो बनाए जाते थे या फिर दो लम्बी गर्दन वाले मोरों को आमने-सामने बना कर बीच में खाली जगह ऐसे छोड़ी जाती थी जैसे शिवलिंग हो। कई फुलकारियों में दोनों मोरों के बीच में साँप की आकृति बना दी जाती थी जैसे दोनों इसे खाने को लगे हों। ऐसे ही हाथी जिसे प्राचीन गाँवों में लोग मत्था टेकते थे, यह महावत लेकर घर-घर घूमता था। बच्चों की टोलियाँ भी हाथी के पीछे घूमती थीं और घरों की औरतें इन्हें दान देती थीं। हाथी की शान-शौकत, शाही चाल उसकी शान और बढ़ा देते थे। ऐसे ही घरों में अण्डों और मीट के लिए मुर्गे-मुर्गियाँ रखे जाते थे। यह परिवार का महत्वपूर्ण हिस्सा होते थे। सुबह होने का संदेश मुर्गा अपनी बांग देकर करता था। लोग इसकी बांग सुन कर ही उठ कर काम आरम्भ करते थे। सफेद रंग में मुर्गा-मुर्गी और चूज़े एक परिवार के रूप में दिखाये जाते थे। घरों में कुत्ते रखे जाते थे, यह बिना किसी रस्सी के वहीं आस-पास घूमते रहते थे। फुलकारी में वफादारी का प्रतीक कुत्ता भी कहीं न कहीं जरूर दिखाई देता है। घर की छतों या फिर बनेरों पर बैठे मोर वर्षा ऋतु की आमद या फिर बागों में पके फलों का संदेश लेकर आते ये पंछी औरत को पागल कर देते।

फुलकारी के रंग

पंजाब में चिड़ियाँ परिवार का हिस्सा होती थीं। हाल की छत में लकड़ी के शहतीरों पर घास-फूस का आल्हण बना कर अण्डे देती, वर्षा से पहले रेतीली मिट्टी में नहा कर भगवान से प्रार्थना करती, फुर्र करके उड़ती औरत का प्रतिनिधित्व करती। पंखों को खोलकर नाचती चिड़ियाँ फुलकारी के ऊपर आ बैठतीं। सफेद कबूतर जिन्हें लोग घरों में पालते वह भी समाज का महत्वपूर्ण भाग होते। खुले आंगन में दाना चुगना, छत पर लगे छत्ते पर बैठना, उड़ारी भर कर अपने घर वापस आना, संदेश पहुँचाना आदि इन के बहुमूल्य कार्य होते। गोले कबूतर और चीने कबूतरों में लोग बहुत अन्तर समझते थे। कतारों में बैठे सफेद चीने कबूतर पता नहीं आंतरिक भावों को कैसे प्राप्त कर लेते थे। ऐसे ही घरों में पाले जाने वाले तोते होते थे। पिंजरे में बंद तोता घर की चार दीवारी के अन्दर रहती स्त्री का पक्का दोस्त बनता जो उसके राज़ों को अपने तक ही सीमित रखता था। दोनों की इतनी घनी दोस्ती होती कि एक दूसरे के बिना सांस लेना मुश्किल होता था। फुलकारी में अनेक किस्मों के तोते हैं जिनकी मानसिकता और आकार को वह अच्छी तरह जानती हैं। हरे रंग, गले में काली गानी, लाल चोंच

वाले हरियल तोते से पंजाबन का विशेष रिश्ता कहा जाता है क्योंकि यह बागों में जाकर फल खाता है। घरों में घूमते कीड़े-मकोड़े और मक्खियाँ, जुगनू, छिपकलियाँ, जुएँ आदि भी फुलकारी में देखे जा सकते हैं। बड़ी-बड़ी जुएँ जो पशुओं को पड़ती हैं अनेकों फुलकारियों पर देखी जा सकती हैं। मधुमक्खियों के छत्ते और रानी मक्खी, कीड़े खाती छिपकली, चूहे खाता उल्लू बहुत ही लोकप्रिय रहे हैं जिन्हें फुलकारी में बंद करने की कोशिश है। गाँव के पानी की महत्ता उस समय के लोगों को मालूम थी। इसके पानी में रहती मुर्गाबी जिसे अपनी चाल के कारण जाना जाता है, बत्तखें जो गर्दन बाहर निकाल कर पानी में तैरती हैं, पानी में छलांगें लगाती मछलियाँ आदि फुलकारी में उतारी गई हैं।

पंजाब की धरती पर बहते पानी के नाले, नहर और कुएँ भी औरत के साथ जुड़े रहे हैं। फुलकारी में सर्पीले पानी के नाले, नहरें जो किनारे तक पानी से भर जाती हैं सभी फुलकारी के धरातल पर उकेरे गए हैं और इनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की रेखाओं और बिन्दुओं का प्रयोग किया गया है। फुलकारियों के नाम उनके नमूनों पर आधारित होते थे जैसे- चार पंछी बना कर उस का नाम दिया जाता था 'चार कलियाँ वाली फुलकारी' मोर बना कर 'मोरों वाली फुलकारी'।

खेतों में बीजे जाने वाली फसलें जैसे बाजरा, गेहूँ, चने, कपास, गन्ने, मक्की, आदि फुलकारी में अत्यधिक दिखाई देते हैं। बाजरे के सिट्टे औरत की सृजनशक्ति को बढ़ावा देते हैं, गेहूँ जीवन में मनुष्य को जीवित रखता है, चने भी अनन्त शक्ति का स्रोत हैं, गन्ने मिठास भरते हैं और आगे के आगे जड़ फैलाते हैं, कपास के सफेद टिंडे और छिट्टियों की लचक जीवन की सुंदरता का प्रतीक है। गेहूँ दी बल्लियाँ वाली फुलकारी आम थी। बाजरे के छिट्टों पर बहुत चिड़ियाँ आती हैं और पंजाबन पुराने दिनों में इन्हें उड़ाने में बहुत माहिर मानी जाती थीं। ऐसे ही कनक की बल्लियाँ भी यही तोड़ती थीं और सारे खेत में सोने की भरमार औरत को खुशी देती। 'चने दा साग' धैर्य मांगता था जिन्हें काटना, तोड़ना बहुत मुश्किल होता था। पुरानी फुलकारी में 'आमों वाली फुलकारी' जिसमें आम ही आम निकाले जाते थे, 'निम्बूओं वाली फुलकारी' में नींबू के आकार और उसके सख्त छिल्के का ध्यान रखा जाता था। 'छुहारे' जिन का पंजाबी समाज में महत्वपूर्ण स्थान है उनको भी साफ-सुथरा बनाया जाता था। सब्जियों में 'बैंगनों वाली फुलकारी' का सारा मध्य भाग बैंगनों से भरा रहता था, मिर्च खास करके 'लाल मिर्ची वाली फुलकारी' जिसमें भूतों-प्रेतों को भगाने की शक्ति थी, कंकड़ियाँ वाली फुलकारी पंजाब में बहुत होती है।

बाग और फुलकारी दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है - बाग में सारा धरातल भरा होता है और जरा सी भी खाली जगह नहीं रहती। ज्यामितीय नमूनों से सारा कपड़ा भर दिया जाता है। फुलकारी की तरह बाग के नाम भी नमूने के अनुसार रखे जाते थे। 'वरी दा बाग' दुल्हन के लिए कपड़ों, गहनों के साथ दूल्हे के परिवार की ओर से तोहफे के रूप में दिया जाता था। इस बाग को लड़के की दादी अपने पोते के लिए वर्षों पहले बहुत ही उम्मीदों से बनाती थी। ऐसे लाल रंग की पृष्ठभूमि पर पीले पट्ट से नमूने बनाये जाते थे। बड़े-बड़े आकारों में छोटे-छोटे आकार बनाये जाते थे और अंत में पल्लों की ओर चार-चार चौरस खाने बनाये जाते थे। 'बावन' बाग एक अलग तरह का बाग है जिसको कला का श्रेष्ठ नमूना कहा जाता था। इसका अर्थ था कि सारी पृष्ठभूमि पर 52 ज्योमैट्रिक नमूने हैं। बाग में कैसे भी नमूने हों परन्तु रंग गूढ़े और चमकीले लगाए जाते थे। ऐसे ही 'सूर्यमुखी' बाग मालवे के इलाके का खास था। 'सरपल्लू' बाग में चारों ओर बार्डर में त्रिकोण और लम्बी-लम्बी रेखाएं बनाई जाती थीं परन्तु अन्दर बीच में पंछी, पशु और मनुष्य आकृतियाँ थीं।

'रेशमी शीशा' जिस का भाव है बहुत ही सुन्दर, महीन और चमकदार। इस बाग का धरातल नीला होता था और ज्यामितिय नमूने बिखरे होते थे। नीले रंग के कारण कढ़ाई सफेद रेशम से की जाती थी। सारा बाग शीशे के समान चमकता था। तोते के जोड़ वाला बाग, मोरों वाला बाग, गेंदा बाग, मोतिया बाग, गुल्लखहिरा बाग, अनार बाग, ककड़ी बाग, आम बाग आदि पंजाब की धरोहर बने हुए हैं। करेलियाँ दा बाग, मिर्चां दा बाग, सड़के का बाग, जहाजों का बाग में एक भी धागा नीचे से दिखाई नहीं देता। दूसरे शब्दों में बाग में फूल, पत्तों, वृक्षों, बेलों से भरी धरती रचनाकार ने लाल-नीले कपड़े के टुकड़े पर रूपमान कर दी। इन बागों का नाम रंगों के नाम पर भी रख दिया जाता था जैसे 'पचरंगा', 'सत रंगा' जिन में पाँच और सात रंग दिखाई देते थे। ऐसे ही रौशनी और छाया के बाग

CMYK # 24

हैं जिनमें दोनों रंगों के कारण बाग को 'धूप-छाया' बाग कहा गया। कई बाग जैसे लहरिया, बिज्जलियाँ, ज्यामितिय नमूने बाग के नाम पर ही आधारित थे। लहरियाँ में लहरें थी, बिज्जलियों में रौशनी आदि।

चोप कढ़ाई भी फुलकारी और बागों में बहुत प्यारी है। चोप को खुरदरे खद्दर पर किया जाता था। साटन-स्टिच के साथ दोनों तरफ कढ़ाई एक सी होती थी। कढ़ाई सुनहरे रंग के रेशमी धागे के साथ-साथ अन्य विरोधी रंग भी प्रयोग किये जाते थे। काले धागे के साथ बाहरी आकार उलीक दिया जाता था।

पंजाबन फुलकारी की दार्शनिकता को बहुत अच्छी तरह समझती थी। उसे ब्रह्माण्ड में रहने और अन्य क्रियाओं का भी पता था। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पहाड़, नदियाँ, नाले, धरती, वनस्पति आदि के बारे में ज्ञान था। इन विषयों के ऊपर फुलकारी निकाल कर उसने अपनी ताकत का एहसास करवा दिया। धरती पर पैदा हुए वृक्ष जैसे वोहड़, केला, पीपल, नीम, टाहली, डेक के अतिरिक्त अनेक बेल-बूटे, तारा-मीरा, पीलां, बेर, कलियों, आदि को आकार दिए। सारे ब्रह्माण्ड को अपने सिर पर उठा कर चलना, उसकी अंतर्शक्ति ही है। प्राकृतिक वातावरण में बनाई हुई उसकी लोक खेलें जैसे लुकण-मीटी, कोटला, पीचो-बकरी, घुग्गु-घांगड़े, आदि गहरे अर्थ रखती हैं। यह सभी खेलें जिंदगी का अध्याय हैं जिसमें बड़े-बड़े अर्थ छुपे हुए हैं। लोक गाथाएं, लोक कहानियाँ, मुहावरे और लोकोक्तियाँ आदि फुलकारी में निकाले गए हैं। जिन्दगी में नैतिकता से जुड़ी अनेकों बातें इन नमूनों में हैं। अदले का बदला, लालच, एक दूसरे की सहायता, धीरे-धीरे मंजिल पर पहुँचना, परी कहानियाँ दुर्लभ खजाना है।

फुलकारी संसार भर में औरत के कौशल का सुंदर प्राकट्य है। इसकी 'माँ' पंजाबन है जिनका सम्बन्ध सिंधु घाटी की सभ्यता से जुड़ता है। शब्द फुलकारी दो शब्दों के जोड़ 'फुल' और 'कारी' से बना है, भाव 'फूलां का काम'। प्राचीन भारत में इसके जन्म के कोई उदाहरण नहीं मिलते परन्तु कढ़ाई पैटर्न है जिसे सुई और धागा आगे-के-आगे बनाते रहते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता की खुदाई में से एक मूर्ति मिली है जिसके शाल पर कढ़ाई के नमूने हैं। हमारे पूर्वज, वैदिक आर्य इस कला में बहुत निपुण थे। महान कवि वारसशाह की लिखित 'हीर' में फुलकारी शब्द इस्तेमाल हुआ है और सामाजिक दस्तावेज बन गया है।

फुलकारी की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि यह शब्द ईराक से पंजाब में आया। वहाँ पर इसे गुलकारी कहा जाता था। प्रसिद्ध इतिहासकार फ्लोरा ऐनस्टीन ने कहा है कि फुलकारी शब्द भारत में मध्य एशिया के नोमेड़ जाट कबीले लेकर आए। पंजाब की फुलकारी के कुछ नमूने गुरु नानक देव के कपड़ों, रुमालों और शामलों में भी प्राप्त हुए हैं। कहा जाता है कि बेबे नानकी जो नानक की बहन थी उन्होंने रुमाल को चम्बा स्टाइल में बनाया। शामला में फूलों के अनगिनत नमूने बनते थे। इसका उदाहरण गुरु अर्जुन देव ही के समय में बने शामले का है जिसे उन्होंने शगुन के तौर पर माई गंगा से शादी करने पर पहना था। शामला में हरा, क्रीम और अन्य रंग फुलकारी वाले ही लगाए जाते थे। जब मुगल भारत आए तो यह कढ़ाई बहुत विकसित हुई।

कढ़ाई को देखकर फुलकारी को तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है- (1) फुलकारी, चादर जिसके धरातल ऊपर फूल-बूटे, आकृतियाँ आदि डाली जाती हैं। (2) बाग की सारी पृष्ठभूमि नमूने से भरी होती है। (3) चोप, जहां पर कढ़ाई किनारों पर होती है। फुलकारी में बने गोल आकार, त्रिकोण, चौरस, खाने आदि सुन्दरता की भाषा बयान करते हैं। गोल आकार जिन्दगी के चलते रहने, एकीकरण को रूपमान करता है, यह सूर्य का ही प्रतिबिम्ब होता है। त्रिकोण शक्ति को व्यक्त करता है, जब दो त्रिकोण मिल जाते हैं तो सम्पूर्णता आ जाती है। ऊँचे खुले आकाश में उड़ते हुए पंछी आध्यात्मिकता की खोज करते हैं, वह सभी बंधनों से मुक्त होते हैं। ऐसे ही मोर शुद्ध इच्छा और तोते पंजाब की लोक गाथाओं में प्रमुख चरित्र हैं जो काम देवता का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूरी उमंग और शुभ इच्छाओं से सूत कात कर गाँव के जुलाहे के हाथ पकड़ाया जाता था और वह उन्हीं भावनाओं के साथ घर की खड्डी धरती में गड्ढा खोदकर और उसके ऊपर बुनाई वाले फट्टी लगाकर बुनता था। यह घर बुना गया खद्दर सस्ता पड़ता था और मजबूती भी बनाए रखता था। यह खद्दर मोटा होता था और औरत अपने आप ओढ़ कर सुरक्षित महसूस करती थी। खद्दर के धागे कढ़ाई करते समय गिनती करने में भी आसान होते थे। पुराने पंजाब में वो लोग इसी खद्दर के कपड़े पहनते थे क्योंकि गर्मियों में ठंडा और सर्दियों में गर्म होता था,

CMYK # 25

बिल्कुल पतला कैमरिक की तरह, इस पर कोमल फुलकारी के नमूने बनाये जाते थे।

आमतौर पर फुलकारी 2.30 × 1.40 मीटर बाग 3 × 1.75 मीटर और चोप 3 × 1.75 मीटर माप का होता था। फुलकारी और बाग 3.5 से 6.50 मीटर आकार के होते थे। खद्दर की चौड़ाई कम होने के कारण औरतें दो टुकड़े जोड़ लेती थीं। दोनों के बीच में भी कितने बार तीसरा हिस्सा जोड़ लिया जाता था जिसे 'पट' कहते थे। चोप में सिर्फ दो ही टुकड़े जुड़ते थे। दोनों को हाथ के लम्बे तरोपों से जोड़ा जाता था। फुलकारी में प्रयोग होने वाला खद्दर घर पर ही रंग लिया जाता था। प्राकृतिक फूल, वृक्षों की छाल और जड़ें उबाली जाती थीं और उनका रंग इस खद्दर को दिया जाता था। कीकर की छाल, मन जीठ पौधा और पलाश के फूल पानी में डाल कर उबाले जाते थे। सारी रात और दिन उसे लाल पानी में भिगो कर रखने से खद्दर लाल हो जाता था। लोहा डालने से धरातल काला हो जाता था। इसे घोल में से निकाल कर पानी में डुबो दिया जाता था और सोडियम क्लोराइड वगैरह डाल दिया जाता था। कितनी बार पीपल की छाल भी डाल ली जाती थी। रंगों को अधिकतर चमक देने के लिए रंगदार घोल को राख के नीचे दबा देती थीं। कपड़ा गर्म रंगीन घोल में सूख जाता और बाद में निकाल कर बिछा दिया जाता। रंग प्रक्रिया पूरी होने के बाद भी खद्दर को अलू-सॉल्यूशन में दबा दिया जाता था ताकि रंग अच्छी तरह से पक्के हो जायें।

फुलकारी का टांका पीछे से लगाया जाता था और पैटर्न कभी भी ट्रेस नहीं किए जाते थे। पीछे से धागे गिन-गिन कर कढ़ाई की जाती थी। यह डारनिंग टांके 1 से.मी. की लम्बाई के होते थे। डारनिंग टांके के साथ-साथ हैरिंग वॉन स्टिच, क्रास स्टिच, स्टैम स्टिच, बैंक स्टिच और रनिंग स्टिच आकर्षण बढ़ाने के लिए प्रयोग होते थे।

पंजाब में शायद ही कोई ऐसा मौका हो जैसे शादी, मंगना, रोका, जन्म आदि जब फुलकारी न हो। डोली में जब लड़की को अपने घर भेजा जाता था तो डोली और लड़की दोनों पर शगुन फुलकारी का ही होता था। शादी से कुछ दिन पहले जब लड़का-लड़की 'माईयां पैना' करते तो दोनों के ऊपर फुलकारी दी जाती थी।

बारात चलने से पहले लड़का जब नई दुल्हन लेने चलता था तो सिर पर फुलकारी की छाया ही शुभ मानी जाती थी। शादी करने से पहले जो नहाना होता था वह भी फुलकारी की छाया में ही होता था। जब मामा अपनी भानजी की शादी से पहले चूड़ा चढ़ाता था तो वह रस्म भी फुलकारी लेकर ही होती थी। नव जन्म बच्चे के जन्म में अनेक रस्में होती थीं जिनमें बच्चे की मां सिर पर फुलकारी पहनना अपना धर्म मानती थीं।

कितने ऐसे त्यौहार आते हैं जब फुलकारी का खास महत्व होता था जैसे 'करवा चौथ'। सुहाग का प्रतीक फुलकारी ही माना जाता था। यहाँ तक कि जब कोई बड़ी आयु की सुहागन मरती थी तो उसके शरीर पर फुलकारी ही दी जाती थी। प्राचीन पंजाब में फुलकारी और औरत का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों एक-दूसरे की पूरक थीं।

फुलकारी किसने बनाई, किसके लिए बनी, कौन से समय में बनी आदि कढ़ाई करने वाली फुलकारी के एक कोने में लिख देती थी। जैसे- करतार सिंह, अवतार सिंह, गुलाब सिंह, मुख्त्यार सिंह, गुरदयाल सिंह, नाथ, तेजा सिंह, प्यारा सिंह आदि नामों के साथ ही कहीं किनारे में संत कौर, हरबंस कौर, प्रसिन्नी, मुख्त्यार कौर, हरनाम कौर, छनो-गुट्टी ने बनाई आदि ऐसे रिकार्ड उस समय की सामाजिक और आर्थिक हालत पर रौशनी डालने में सहायता कर सकते हैं।

फुलकारी एक कलात्मक रुचि का प्रकटाव है। सारी पंजाबी संस्कृति इसी में मौजूद है। इसकी महत्ता का उदाहरण है कि 1832 में महाराजा रणजीत सिंह ने एक दस्तावेज़ तैयार करवाया जिसमें फुलकारी की खोज प्रमुख थी। 1881 में जब पंजाब की पहली प्रदर्शनी मांग थी। 1947 के बाद फुलकारी व्यावसायिक हो गई। लोग फुलकारी को दुपट्टे, रुमाल, जैकेटों, सलवार, कमीजों पर फैशन के रूप में पहनने लगे।

- डा॰ सरोज चमन, अध्यक्ष,
फाइन आर्ट्स विभाग,
पंजाबी यूनीवर्सिटी,
पटियाला (पंजाब)

CMYK # 26

डॉ० नवरत्न कपूर

पहाड़ी दीवाली : विचित्र नाम एवं परंपराएँ

भगवान् राम वाली दीवाली : भारत के अधिकांश भागों में 'दीपावली' (दीवाली) का महोत्सव कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है। चंद्रवर्षीय विक्रम संवत् के अनुसार यह अमावस्या तिथि 'कार्तिक मास' की होती है जिसका प्रचलन उत्तरी एवं पूर्वी भारत में विद्यमान है। महाराष्ट्र में यह महान पर्व शालिवाहन शक संवत् के आश्विन मास की अमावस्या को मनाने की प्रथा है। महीनों के नामों में अंतर होने के बावजूद यह तिथि 'अमावस्या' ही होती है और मनाए जाने का दिन भी एक समान होता है।

उत्तरी एवं पूर्वी भारत तथा राजस्थान में दीवाली का संबंध भगवान् राम के चौदह वर्ष के वनवास से लौटने पर अयोध्या में मनाए गए ''राज्याभिषेक की खुशियों'' हेतु की गई 'दीप माला' से जोड़ा जाता है। सिक्ख गुरुद्वारों में कार्तिक मास की अमावस्या की रात्रि में दीपमालाएँ सजाकर 'रौशनियों का त्यौहार' मनाया जाता है। सोलहवीं ईस्वी में छठे सिक्ख गुरु श्री हरिगोविन्द जी ने मुगल शासकों के ग्वालियर किले में कैद भारत की 52 (बावन) रियासतों के राजाओं को मुक्त करवा कर ''बंदी छोड़ दाता'' की उपमा प्राप्त की थी। सिक्ख गुरुद्वारों में इसी उपलक्ष्य में दीपमाला की जाती है। महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत में 'दीपावली' का संबंध ''नरकासुर वध'' से ही अधिकतर जोड़ा जाता है; जबकि मार्गशीर्ष मास वाली 'पहाड़ी दीवाली' का 'बाणासुर' से।[1]

मराठी रंग : उपर्युक्त 'दीवाली' के अतिरिक्त इसी नाम वाले कुछ अन्य पर्व भी भारत के कुछ भागों में विभिन्न महीनों तथा तिथियां को मनाए जाने का रिवाज है। महाराष्ट्र में मार्गशीर्ष प्रतिपदा से षष्ठी तक ''खंडोबा नवरात्र'' मनाए जाते हैं। 'नौ' की बजाय 'छः' दिन के त्यौहार को जहाँ 'नवरात्र' कहना एक अद्भुत बात है उसी तरह इसके पाँचवें दिन को 'नाग दीवाली' पुकारना भी। इस दिन आबाल-वृद्ध उपवास रखते हैं और घर में तैयार किए गए तरह-तरह के पकवान एक माला में पिरोकर ''खंडोबा मंदिर'' में जा कर बाँधते हैं। इस दिन निरामिष भोजन ही किया जाता है और आमिष भोजन वर्जित होता है। छः दिन-रात अखंड ज्योति जलाए रखने की प्रथा है, जिसे मराठी भाषा में ''नंदा दीप'' कहा जाता है। कुछ श्रद्धालु 'नाग दीवाली' की रात्रि को एक हंडे में तेल डालकर और उसमें रखी हुई रूई की लंबी बत्ती को जलाकर तथा कंधे पर उठाकर जुलूस के रूप में 'खंडोबा मंदिर' में अर्पित करते हैं। इस ज्योति को मराठी भाषा में ''तिळवणाचा हंडा'' पुकारा जाता है, क्योंकि इसमें 'तिलों का तेल' प्रयोग करने की ही प्रथा है।[2] खंडोबा के प्रसिद्ध मंदिर महाराष्ट्र के अनेक स्थानों पर बने हुए हैं। किन्तु 'पुणे-सतारा मार्ग' पर पुणे से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर स्थित 'जेजुरी' नामक स्थान के खंडोबा को महादेव का ज्येष्ठ पुत्र कार्तिकेय माना जाता है। 'कार्तिकेय' का मूल नाम 'स्कंद' है और उसी का अपभ्रंश ''खंडोबा'' माना जाता है।[3] 'नाग दीपाली' के कुछ लोकगीत भी मलते हैं।[4]

कुम्हार के सधे हाथों से सृजित होते दीप

उत्तराखंडी रंग : उत्तरांचल प्रदेश के जौनसर नामक पहाड़ी

कस्बे में 'दीवाली' का पर्व कार्तिक मास की अमावस्या की बजाय पूरे एक महीने बाद ''मार्गशीर्ष अमावस्या'' को मनाया जाता है। कहीं-कहीं तो उस क्षेत्र में यह अगले पंद्रह दिन (पूर्णिमा) तक चलता है। वहाँ पर दीवाली के मौके पर तेल के दीपक या मोमबत्तियाँ जलाने की प्रथा नहीं है, बल्कि लोग घास-फूस जलाकर रौशनी करते हैं और उस प्रकाश में रात्रि को नृत्य भी करते हैं तथा अखरोट बाँटते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि पहाड़ी क्षेत्र होने के फलस्वरूप वहाँ पर पैदल पहुँचने वाले लोग 'भगवान् राम के राज्याभिषेक' की सूचना एक महीने बाद लाए थे।

हिमाचली रंग : पंजाब से सटे हिमाचल प्रदेश के अधिकांश भागों में 'दीपावली' का त्यौहार कार्तिक मास की अमावस्या को ही मनाया जाता है। किन्तु वहाँ के सोलन ज़िले के कुछ गाँवों में ''देवोठान (देवोत्थान) एकादशी'' को ''बूड़ि दवालि'' (बूढ़ी दीवाली) कहा जाता है। देश के अन्य भागों में ''कार्तिक अमावस्या'' को मनाए गए उत्सव से 'बूढ़ी दीवाली' लोकपर्व दस-ग्यारह दिन बाद (चन्द्रमास की तिथियों के अनुसार) पड़ता है। हिमाचल प्रदेश के मध्यवर्ती क्षेत्र में इसे ''बुढ़ी दियाउड़ी'' या ''मशराड़ी'' का मेला भी कहा जाता है। यह मेला वहाँ पर बहने वाली व्यास, सतलुज, पब्बर तथा गिरी-यमुना की उपत्यकाओं में ''मार्गशीर्ष अमावस्या'' को ही भरता है। उस दिन दशनामी साधुओं के अखाड़ों में अग्निपुंज प्रज्ज्वलित किया जाता है और इसके इर्द-गिर्द ''गढ़िए-दानुए युद्ध'' का अभिनय होता है। वस्तुत: 'गढ़िए' देवपुरी रूपी किले (गढ़) का रक्षक, देवताओं का समूह होता है और 'दानुए' होते हैं ''दानव'' (दैत्य या राक्षस)। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। दशनामी अखाड़े के अग्निपुंज को 'परशुराम का धूना'' कहा जाता है। कुल्लू जिले के सौंगला नामक कस्बे से लगभग 90 किलोमीटर की दूरी पर स्थित 'निरमण्ड' (नृमुण्ड) मेले में उपस्थित एक दृश्य को एक विद्वान ने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है :

''इस गाँव में यह त्यौहार दीपमाला के ठीक एक मास पश्चात् आने वाली अमावस्या के दिन मनाया जाता है। रात को 8-9 बजे से दस नामिया अखाड़ा, जहाँ परशुराम ऋषि का धूना है, में आग लगाई जाती है। लकड़ी के बड़े-बड़े लट्‌ठे इकट्‌ठे करके अंगीठा जलाकर उसकी पूजा की जाती है। पूजा करने वाले 'कविराज ब्राह्मण' (इनका कार्य पूजा पाठ और नृत्य-गान ही होता है) होते हैं। धूने के इर्द-गिर्द केवल ब्राह्मण जाति के लोग नाचना तथा गाना आरंभ करते हैं। इन गानों को स्थानीय भाषा में 'कण्डी' कहते हैं। इनमें महाभारत तथा रामायण के युद्धों का वर्णन आता है।

आधी रात के समय 'गड़िए' (गढ़िए) राजपूत जो गाँव के एक भाग 'कोठी कण्ढी' में रहते हैं, आकर नृत्य में शामिल होते हैं। ये बड़ी तेजी से आते हैं जैसे किसी घर पर आक्रमण कर रहे हों। ब्रह्म मुहूर्त में (अगले दिन) हरिजन 'देरच' (एक प्रकार की मशाल) लेकर अखाड़े में आते हैं। इस मशाल को धूने में जलाकर अखाड़े से बाहर निकलते हैं। इसके साथ सब हरिजन पुरुष गाँव के गिर्द चक्कर लगाते हैं। ये सभी गंभीर आवाज़ में 'दयावलिए, दयावलिए' कहते हैं। इस चक्कर (परिक्रमा) को 'सिख-फेर' (ग्रह निवारण) कहा जाता है। बाद में लौट कर वे बड़ी शीघ्रता से अखाड़े में प्रवेश करते हैं। इसके पश्चात् राजपूतों व हरिजनों में 'देरच' के लिए छीना झपटी होती है। प्रात:काल होते ही मेला समाप्त हो जाता है। बाहर वाले लोग ब्राह्मणों के घर में खाना खाते हैं।

गाँव में हरिजनों के दो दल हैं, जिन्हें 'कोठकी शाटी' (देवी की कोठी के साथ रहने वाले) तथा 'डमाकी शाटी' (मंदिर के साथ रहने वाले) कहते हैं। ये दोनों दल अपने-अपने घरों में मूँजी (मूँज) लेकर एक खाली स्थान 'भोट' पर अपने-अपने रस्से बनाते हैं। अपने-अपने रस्से लेकर दोनों दल बाजार में आते तथा नाचते हैं। वे इन रस्सों के साथ अढ़ाई-अढ़ाई फेर नाचते हैं। नाचकर दोनों शाट वाले अपने-अपने रस्से परशुराम के मंदिर के प्रोल (मुख्य द्वार) के सामने रख देते हैं। फिर वे अपने घर जाकर खाते हैं।

इन रस्सों के पार 'कविराज' (पूजा-पाठ और नृत्य-गान करने वाले ब्राह्मण) आकर इनकी पूजा करते हैं। ये रस्से साँप की कुंडली की भाँति रखे गए होते हैं। एक रस्से को ब्राह्मण आदि कोठी से बाहर निकालते हैं और परशुराम के धूने के पास ले आते हैं। वे इसे परशुराम की कोठी (मंदिर) के पिछली ओर 'ब्राह्मण-खेत' में ले जाते हैं और वहाँ नाचते हैं। रस्से को कंधे पर व हाथ में पकड़ कर नृत्य किया जाता है। वहाँ पर फिर कोठ की शाट (जो बड़ी मानी जाती है) के रस्सों वाला हरिजनों का दल आता है और वहाँ पजोहर [दो बाँसुरियाँ, मांदवी (लम्बोतरा उफाल), एक शंख तथा एक छैना = पाँच वाद्ययंत्र] बजाते हुए बिना रस्से के ब्राह्मणों के दल के सामने नाचता है। अढ़ाई फेरे लगा चुकने के पश्चात् (हरिजनों का) बाजा बंद हो जाता है और कथण्डा गाँव के दो व्यक्ति तलवार लेकर उनके इर्द-गिर्द नाचते रहते हैं। आधे घंटे बाद वे राजपूत ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी को काटने वाले ही हों। नाचते-नाचते वे उस 'बाहंड' (रस्से) पर टूट पड़ते हैं और उसको तीन टुकड़ों में काट देते हैं। इन टुकड़ों को ब्राह्मण, जिनकी उन्हें ले जाने की बारी होती है, अपने मुहल्लों में ले जाते हैं। टुकड़े बड़े व छोटे भी हो सकते हैं। रस्सा 30

हाथ तक लंबा तथा 6 इंच के लगभग मोटा होता है। प्राचीन समय में यह लंबाई व मोटाई दोनों में अधिक होता था। इसके पश्चात् ब्राह्मण लोग इस मूँज को बाँट लेते हैं... दूसरे दिन उसी समय दूसरे बाहंड (रस्से) की पूजा होती है। दो मुहल्लों के लोग पिछले दिन की भाँति इसे दूसरे स्थान 'ब्राह्मण' पर ले जाते हैं और उसके साथ वैसे ही नाचते हैं। इस दिन हरिजन नहीं नाचते। रस्सा काटा जाता है फिर पिछले दिन वाली बातें दुहराई जाती हैं। ब्राह्मणों के पाँच मुहल्ले हैं। किन्तु 'स्वाणू मुहल्ले' के ब्राह्मण जो भिक्षु पुरोहित माने जाते हैं, रस्से के टुकड़े किसी भी वर्ष नहीं लेते। वे केवल दान लेने वाले माने जाते हैं। यह रस्सा 'राक्षस' या 'नाग' का प्रतीक माना जाता है, जो किसी समय जनता को हानि पहुँचाता था।''[5]

प्रतीकात्मकता : ''हरिजन'' का अर्थ हमारी दृष्टि में 'मेहनतकश' लोग हैं, जो अपनी रोज़ी-रोटी मूँज से रस्से बनाकर कमाते हैं। निरमण्ड के दो विभिन्न क्षेत्रों में रहने के कारण उनकी जीवन-शैली का प्रभाव रस्सों को बनाने में अवश्य आता है। ब्राह्मण लोग इनकी रस्से बनाने की कला को सम्मानसूचक मानकर उसकी पूजा करके मेहनतकशों की प्रतिभा को समादृत करते हैं। किन्तु 'आपसी रस्सा-कशी' जो ऊँच-नीच का भेदभाव सूचक 'मुहावरा' बन गया है, वह नाग की भाँति प्रत्येक समाज के लिए घातक है, जिसे शूरवीर (क्षत्रिय राजपूत) मिटाने के लिए आगे बढ़ते हैं। वे आपसी ''रस्सा-कशी'' रूपी परस्पर द्वेष-भाव का अंत रस्से काट कर प्रदर्शित करते हैं। किन्तु मेहनतकशों की कारीगरी का 'प्रसाद' (नैवेद्य) सँभाल कर रखना ही तो सच्चा मानव-धर्म है, जिसकी पूर्ति केवल चार मुहल्लों के ब्राह्मण अपनी-अपनी बारी से करते हैं। हिन्दुओं की चतुर्वर्ण व्यवस्था वाला भेदभाव घातक है और कला तो वरेण्य है, इसी लिए ब्राह्मणों द्वारा एकत्रित किए हुए टुकड़े इसका उद्घोष करते हैं। 'स्वाणू' शब्द 'सयाणा' (समझदार) का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। वे ब्राह्मण जो खुद ही पुरोहित हों, वे पुर (नगर) के 'हितैषी' होते हैं। उनको यजमानों से ही भरपूर दान की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए वे रस्सों के टुकड़े रूपी 'दान' का परित्याग करके अपनी समझदारी (स्वाणू) का परिचय देते हैं। यदि सामूहिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए तो ''निरमण्ड का मेला'' दर्शकों को छोटे-मोटे पेशेगत (Professional) भेदभाव छोड़कर भावात्मक एकता (Emotional Integration) का संदेश देता है।

''निरमण्ड मेले'' वाले 'रस्सों' के टुकड़ों को ग्रहण न करने वाली प्रवृत्ति में ''त्यागशीलता'' की भावना को देखा जा सकता है। ग्राम-पंचायत में पाँच सदस्य होते हैं। यदि किसी मामले को लेकर दो-दो सदस्य जुड़कर अलग-अलग गुट बना लें तो उस गुटबाज़ी की चिन्ता करके पाँचवाँ सदस्य, जो कि 'सरपंच' कहलाता है, अपनी सूझ-बूझ भरी टिप्पणी करके मामले का फ़ैसला सुना देता है। 'स्वाणू' शब्द में यही अर्थवत्ता भरी हुई है।

परशुराम जी भी भगवान् राम की तरह त्रेता युग में हुए थे। वे दोनों ही भगवान् विष्णु का अवतार माने जाते हैं। कार्तिक मास के शुक्लपक्ष की एकादशी (देवोत्थान एकादशी) को हिमाचल प्रदेश के सिरमौर ज़िले में ''रेणुका सरोवर'' पर एक मेला लगता है। एक विद्वान् ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है :

''विष्णु के अवतारों में हिमाचल प्रदेश में परशुराम का स्थान भी बहुत सम्माननीय है... सिरमौर ज़िले में ददाहू के निकट 'परशुराम ताल' में उनकी पूजा को सर्वदा याद रखे हुए है। पास ही परशुराम की माता ''रेणुका'' का सरोवर है, जिसे ''रेणुका झील'' कहते हैं। अनुश्रुति के अनुसार यहीं पर परशुराम ने अपने पिता जमदग्नि के आदेश पर माता रेणुका का वध किया था और बाद में इस आज्ञा के अनुपालन पर प्रसन्न हुए पिता से वरदान के रूप में पुनः माता रेणुका को जीवित कराया था। यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की एकादशी को भारी मेला लगता है, जिसमें रेणुका, जमदग्नि और परशुराम को श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। श्रद्धालु सरोवर में स्नान करते हुए गाते हैं :

''कहें भगत मुझ पापी का छोड़ ख्याल,
भव सागर से तर जावें,
जिन पर होत परशुराम दयाल।''[6]

आश्चर्य नहीं कि जिस दिन भगवान् राम के अयोध्यापति बनने की ख़बर पैदल यात्रियों द्वारा पहाड़ी क्षेत्र में पहुँची हो, उसी दिन भगवान् परशुराम ने माता रेणुका जी को पुनर्जीवित किया हो और ''पहाड़ी रंग में रंगी दीवाली'' ने उसी दिन से अपनी पृथक् महिमा दर्शानी शुरू कर दी हो। भगवान् राम और भगवान् परशुराम दोनों ही सच्चे पितृभक्त थे। एक ने चौदह वर्ष का वनवास झेला और दूसरे ने मातृ-संहार की कठोर मानसिक पीड़ा। 'बुढ़ी दीवाली' का संबंध परशुराम जी से जोड़ने वाली इस धारणा की पुष्टि 'निरमण्ड मेले' के संदर्भ में वर्णित ''दसनामिया अखाड़े के परशुराम ऋषि के धूने से भी हो जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ पर जन-समूह (मेले) का केन्द्र एक सरोवर (रेणुका झील) है और वहाँ पर अग्नि कुंड।

ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे यह 'बूढ़ी दीवाली' नामक लोकोत्सव हिमाचल प्रदेश के ऊपरी भागों में भी पहुँच गया और किन्नर क्षेत्र के पूह मंडल में इसका खूब प्रचलन हुआ। किन्नरों के लोकजीवन पर शोधकर्ताओं की उपलब्धियों के आधार पर तत्संबंधी तथ्य यहाँ प्रस्तुत हैं; यथा :

(क) 'पांगी' में इस त्यौहार को 'छोटी दीवाली' कहा जाता है। यह लोकपर्व भारत के शेष भागों में मनाई जाने वाली 'दीपावली' से 10-15 दिन बाद (देवोत्थान एकादशी और कार्तिक पूर्णिमा के दौरान) मनाया जाता है। यह त्यौहार तीन दिन चलता है, जिसमें पहले और तीसरे दिन 5 व्यक्ति 'खोन' (मुखौटे वाले) बनकर रात्रि के समय मेले के तीन चक्कर लगाते हुए अश्लील प्रदर्शन करते हैं।

(ख) 'मूरङ्' में यह त्यौहार मग्घर (मार्गशीर्ष) मास में मनाया जाता है। उस दिन उस वर्ष के मृतक व्यक्ति के घर से सेब तथा अखरोट एकत्र किए जाते हैं। इस सामग्री को 'लाग' कहा जाता है, जो कि मेले के जनसमूह (सनथङ्) को बाँट दिया जाता है। हमारा विचार है कि यह 'लाग' शब्द पंजाबी भाषा से वहाँ पहुँचा है। भाई काह्न सिंह ने इसका अर्थ दिया है ''लागी दा हक्क'' (लागी का दान-प्राप्ति का अधिकार)। उन्होंने 'लागी' शब्द की अर्थवत्ता इस प्रकार दर्शायी है :

''गृहस्थियों के आसरे लगकर (निर्भर होकर) गुज़ारा करने वाले नाई, झीऊर (पानी ढोने वाले) आदि 'कम्मी' (मेहनत-मज़दूरी करने वाले)।''[7]

संभव है ऋषि परशुराम जी की माता के निधन और पुनर्जीवित होने की घटनाएँ कुछ ही दिनों में एक-साथ होने पर यह सामग्री मृतक (माता रेणुका) के फिर जीवित हो जाने की खुशी में बाँटी जाती है।

(ग) 'मेबर' ग्राम में यह लोकपर्व मग्घर (मार्गशीर्ष) मास की अमावस्या को 'दीवाली' के नाम से आरंभ होता है। यह तीन दिन चलता है। पहले दिन को 'साङ्पन्च' कहा जाता है। उस दिन 'जोगठी' (दीप-ज्योति) जलाई जाती है। उस दिन अखरोट और मूड़ी (भुने हुए गेहूँ आदि अनाज) से देवता की पूजा की जाती है। दूसरे दिन को 'शूद्रातिङ्' कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'देवता को दान करना''। उस दिन मृतकों के नाम पर 'मूड़ी' (नैवेद्य) बाँटी जाती है। तीसरे दिन को 'शी द्रातिङ्' कहा जाता है। 'शी' का अर्थ है 'मृतक' और 'द्रातिङ्' का अर्थ है 'दान'। इस दिन मृतक को दान किया जाता है। संभवत: इस मृतक-दान के पीछे उन्हें भी श्रद्धांजलि भेंट करने का मंतव्य छिपा रहता है।

(घ) 'रक्छम' गाँव में मनाए जाने वाले मार्गशीर्ष मास के इस त्यौहार को 'दीवाली' कहते हैं। लोकविश्वास है कि यह पर्व 'बाणासुर' के वध के उपलक्ष्य में प्रसन्नता प्रकट करने के लिए मनाया जाता है। इस अवसर पर दीपक जलाने की प्रथा नहीं है।

(ङ) रिब्बा, कफौर, मीरु तथा रोधी नामक गाँवों में 'दीवाल' के शुभावसर पर केवल नृत्य-गायन के कार्यक्रम ही होते हैं। वहाँ पर किसी भी प्रकार की पूजा-आराधना का अभाव ही रहता है। लिप्पा गाँव में इस त्यौहार की रात के समय देवता को पालकी में बैठा कर खेतों में घुमाया जाता है। तदनंतर यह पालकी खोलकर रख दी जाती है और उसका उपयोग लगभग सवा महीने बाद (पौष मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को) लगभग दिसंबर मास के अंत में आने वाले 'लोसर' नामक नव वर्ष के समारोहों के समय किया जाता है। सुङ्रा गाँव में इस दिन हवन करने की प्रथा है, जो किन्नर भाषा में 'साङ्ला' में कार्तिक मास की अमावस्या को मनाई गई 'दीपावली' के अनुरूप है।

(च) 'साङ्ला' घाटी में भारत प्रसिद्ध 'दीपावली' को 'बड़े दीवाल' कहा जाता है और इससे ठीक एक महीने पश्चात् होने वाले उत्सव को 'छोटा दीवाल' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसका विस्तृत विवरण डॉ. बंशीराम शर्मा के शब्दों में प्रस्तुत है :

''चार व्यक्ति चार वंशों से देवता द्वारा चुने जाते हैं। ये मेले के प्रबंधक होते हैं। ये 'पोटोमङ्' शुदङ् (न कशीद की हुई) नामक शराब बनाते हैं। 'पोटोमङ्' मेले से झाड़ियों के अजगर को काटने के उद्देश्य से देवता की स्वीकृति से दो 'सिंहा' मनोनीत करते हैं। ये देवता के प्रतिनिधि माने जाते हैं। इन्हें छूना या इनसे बात करना अपराध माना जाता है।

'सिंहा' को 'ज़ोल्या' भी कहा जाता है। सिंहा को गहने तथा

CMYK # 30

लाल चोगे पहनाए जाते हैं। 'श्वन' नामक वृक्ष की छड़ियों से एक बहुत लंबा अजगर–जिसे 'बाणा' कहा जाता है–बनाया जाता है। परंपरा है कि प्राचीन समय में माँ–बेटा अजगर इस घाटी को निगलने आए थे। इन टहनियों से हरिजन वास्पा नदी के उस ओर साँप बनाते हैं। बाणा लगभग दस–पंद्रह हाथ लम्बा होता है। हरिजनों को बाद में 'शूकिम' (शू = देवता; किम = घर) नामक स्थान पर 'शुदङ्' पिलाई जाती है।

'शूकिम' में जाने से पहले हरिजन 'बाणा' को वास्पा नदी पर ले जाकर पानी पिलाते हैं। इस साँप को सिर की ओर से हरिजन तथा पूँछ की ओर से सवर्ण पकड़ते हैं ओर ज़ोलारिङ् स्थान पर ले जाते हैं। रास्ते में दोनों दल इसे अपनी–अपनी ओर खींचते हैं। जोलारिङ् में इस बनावटी साँप को कुण्डल बनाकर रखा जाता है तथा एक बहुत अश्लील गाना गाया जाता है। साँप को सीधा करके दोनों, सिंहा तथा पुजारी उसे डंगरे से काट देते हैं। गाँव के लोग उन तिनकों को प्राप्त करने के लिए झपटते हैं। साँप के सिर को देवता के मंदिर में ले जाया जाता है। बाद में सिंहा सब के घरों में जाते हैं। दूसरे दिन गाँव के लड़के मिलकर उसी प्रकार का एक छोटा साँप बनाते हैं और ज़ोलारिङ् में काटते हैं। उनका कोई सिंहा नहीं होता। यहाँ उल्लेखनीय है कि सिंहा का पहनावा विचित्र होता है और वे लंबी अचकनें पहनते हैं।'[8]

प्रतीकात्मकता : हमारी दृष्टि में ये अजगर और साँप हमारी ऊँच–नीच के भेदभाव पर टिकी वर्ण–व्यवस्था के कारण सामाजिक जीवन में विष घोलने के प्रतीक हैं। 'श्वन' नामक वृक्ष की शाखाओं से बनाए गए 'साँप' को हरिजन सिर की ओर से पकड़ते हैं और सवर्ण पूँछ की ओर से। पुजारी और सिंहा (उपदेशक तथा सिंह के समान जागरूक शूरवीर) मिलकर साँप को काटकर, वर्ण–व्यवस्था के ज़हर को दूर करने का मौन संदेश देते हैं। हरिजनों द्वारा पकड़ा हुआ 'सिर' वाला भाग ही देवता के मंदिर में ले जाया जाता है। इसका अर्थ है कि मंदिरों में हरिजनों को भी प्रवेश का अधिकार है। तदनंतर 'सिंहों' (जागरूक शूरवीरों) का लोगों के घर जाना भी उसी मौन संदेश के प्रचार–प्रसार का सूचक है। अगले दिन बालकों द्वारा 'छोटा साँप' बनाने से यही प्रतीकात्मकता सामने आती है कि पुरानी पीढ़ियों के जीवनकाल में जो वर्ण–व्यवस्था का विष घुला हुआ था, उसे उनकी प्रबुद्ध संतान धीरे–धीरे दूर करने पर तुली हुई है। साँप बनाने की बाल–क्रीड़ा में 'सिंहा' की अनुपस्थिति इस बात की द्योतक है कि हमें 'पर उपदेश बहुतेरे' वाली प्रवृत्ति त्याग कर शांत मन से स्वत: ही अपनी भूत और वर्तमान काल की भूलों को समझकर अपने समाज एवं देश के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए वर्ग–भेद को ताक पर रख देना चाहिए, इसी में सभी का मंगल है।

पाद टिप्पणियाँ

1. (क) हिमाचल प्रदेश के मध्यवर्ती भाग में प्रतिवर्ष 'बुढ़ी दियाउड़ी' का मेला दीपमाला से ठीक एक महीने बाद आरंभ होता है... 'बुढ़ी दियाउड़ी', 'दयाउड़ी' अथवा 'मशराड़ी' का यह मेला... सरस्वती–सतलुज के जल–संग्रहण क्षेत्र में ही मनाया जाता है। – डॉ. पद्मचंद्र काश्यप : हिमाचली संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ 73–74 ।

   (ख) दियाऊड़ी के मेले का संबंध नाग–खशजन जातियों के आपसी संघर्ष से जुड़ा प्रतीत होता है। – एन.डी. पुरोहित : हिमाचली लोकरंग, पृष्ठ 88 ।

   (ग) बाणा शब्द 'बाणासुर' से सम्बन्धित हो सकता है। किन्नौर के अन्य ग्रामों में भी बाणासुर की आत्मा साँप के रूप में निवास करती हुई मानी जाती है। परंतु निरमण्ड के मेले वाली इन रस्मों को 'बाहण्ड' कहा जाता है। अत: बहुत संभव है कि ''बाणा'' का बिगड़ कर 'बाहण्ड' बन गया हो। – डॉ. बंशीराम शर्मा : किन्नर लोक साहित्य, पृष्ठ 187 ।

2. डॉ. सरोजिनी बाबर [संपादित] : कुल दैवत, पृष्ठ 348 ।
3. उपर्युक्त, पृष्ठ 335 ।
4. Anne Feldhaus & Others [Ed.] % King of Hunters, Warriors and Shepherds (Essays on Khandoba), Page 274.
5. डॉ. बंशीराम शर्मा : किन्नर लोक साहित्य, पृष्ठ 185–186 ।
6. (क) डॉ. पद्मचंद्र काश्यप : हिमाचली संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ 73–74 ।

   (ख) डॉ. नवरत्न कपूर : उत्तर भारत के लोकपर्व–एक वैज्ञानिक विश्लेषण, पृष्ठ 150 ।
7. भाई काह्न सिंह [संपादित पंजाबी ग्रंथ] : महान कोश, पृष्ठ 795 ।
8. डॉ. बंशीराम शर्मा : किन्नर लोक साहित्य, पृष्ठ 185 ।

– डॉ. नवरत्न कपूर
कोठी नं. 1005, सेक्टर 46–बी, चंडीगढ़

– सुरेश पंडित

सामूहिक सृजनात्मकता का प्रतीक : रावत नाच

संस्कृति मनुष्य को संस्कारित करती है। उसके मन, वचन और कर्म को उदात्त बनाती है। उसे जीवन में आने वाले विघ्नों, विपत्तियों से जूझने के लिए ऊर्जा देती है, उसकी आत्मिक शक्ति को संवर्धित करती है। दूसरी ओर संस्कृति स्वयं अपने लिए भी खाद-पानी मनुष्य की गतिविधियों, उसकी जीवनचर्या, सुख-दु:ख की मन:स्थितियों में उसकी प्रतिक्रियाओं से लेती है। इस तरह संस्कृति और मनुष्य अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरे के अनुपूरक हैं। संस्कृति जब मनुष्य को उदात्त बनाने की राह से भटकती है तो निस्संदेह मनुष्य भी विचलन का शिकार होता है। साम्राज्यवादी शक्तियां बहुत पहले से समझ गई हैं कि वे अपना विस्तार अब दूसरे देशों की जनता को राजनैतिक रूप से अधीन बना कर नहीं कर सकतीं। क्योंकि सामरिक शक्ति के जरिये साम्राज्य विस्तार न अब आसान रहा है और न उसे स्थायी बनाया जा सकता है। इसलिये वैकल्पिक मार्ग है व्यक्ति में अपनी संस्कृति के प्रति अवज्ञा पैदा करना, उसे विसंस्कारित करना। वह अब तक जो कुछ सोचता और करता आया है उसके औचित्य पर प्रश्न खड़े करना, बहस चलाना और फिर पहले से तैयार अपने पैरवीकारों के जरिये यह स्थापित करना कि अब तक की उसकी सोच व कर्म गलत थे। उसको आगे पालन करते रहना दकियानूसीपन है व पुरातनपंथी बने रहना है। इसके बदले जो कुछ वे कर रहे हैं वह सही है, तर्कसंगत है व आधुनिक है। इसलिए अपनी संस्कृति द्वारा प्रदत्त संस्कारों, मूल्यों, विचारों को छोड़ो और उनका अनुसरण करो। संस्कृति का यह रूपान्तरण जिसे उदारता, सार्वभौम दृष्टिकोण तथा खुलापन कहा जाता है, एक प्रकार का सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण ही है।

> “ **संचार, सूचना और मनोरंजन के नये माध्यमों ने व्यक्ति को नितान्त एकान्तप्रिय, घरघुसरा एवं आत्म-केन्द्रित बनाकर उसे तनाव, अवसाद एवं कुंठाग्रस्त कर दिया है जबकि वह स्वभावत: एक सामाजिक प्राणी है। समूह में रहना, विचरना व कर्म करना उसकी प्रकृति है। यह सामूहिकता, सामाजिकता, लोक-संस्कृति की जान है।** ”

लेकिन जरूरी तो नहीं कि उनके तर्कों, विचारों, सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों मान लिया जाये। अपनी परम्पराओं, संस्कारों, जीवनशैलियों से यहाँ तक कि जीवन दर्शन से एक झटके के साथ मुँह मोड़ लिया जाये। परिणामत: सांस्कृतिक द्वन्द्व शुरू होता है और भौतिक रूप से अधिक समृद्ध संस्कृति दूसरी पर हावी होने लगती है। यों दिखावा यह भी किया जाता है कि इस तरह कमजोर संस्कृति का पुनर्बलन होता

मुख्यद्वार के सामने नृत्य करते लोक नर्तक

है। यह सांस्कृतिक उपनिवेशवाद शिक्षा, मीडिया, साहित्य, कला, विज्ञान एवं दर्शन आदि के सहारे बहुत ही गोपनीय तरीके से आता है। लेकिन जिस तरह तांत्रिक मानसिक रूप से कमजोर व्यक्तियों को ही अपने प्रयोग का माध्यम बनाता है उसी तरह यह भी कमजोर संस्कृतियों को ही अपना लक्ष्य बनाता है। परम्परागत लोकसंस्कृतियां जो पहले से ही साहित्य, कला और विज्ञान आदि से समृद्ध होती हैं वे इस आक्रमण का प्रतिरोध भी करती हैं और उनकी अधीनता स्वीकार करने से साफ तौर पर मना भी कर देती हैं। अपनी पहचान बनाये रखने के लिए वे हर संभव कोशिश करती हैं। इस तरह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किये जा रहे संघर्षों को पौर्वात्य देशों में विशेष तौर पर देखा जा सकता है। हमारे अपने देश के निपट देहातों तक में गरीब, अशिक्षित आपदाग्रस्त लोगों को भी अपनी संस्कृति की सुरक्षा हेतु प्राणपण से जूझते देखा जा सकता है। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि किस तरह की नव आर्थिक उदारवादी भूमंडलीय व्यवस्था आज संचार, सूचना और मनोरंजन की तकनीक का इस्तेमाल करते हुए पश्चिमी विकास की उपभोगप्रधान संस्कृति को बलात् सारी दुनिया में प्रत्यारोपित करने का भरसक प्रयास कर रही है। इसने मनुष्य को, उसके विचारों को, उसके जीवन मूल्यों को एक पण्य वस्तु बनाकर बाजार में उतार दिया है। इसने इतिहास को निरर्थक और विज्ञान को लोकोन्मुख सरोकारों से विहीन बना दिया है और आम लोगों की मानसिकता को अनुकूलित कर यह स्थापित करने की कोशिश की है कि इसका कोई विकल्प नहीं है। लेकिन स्वत: स्फूर्त लोक संस्कृतियां इसके वर्चस्व को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी सामूहिक सृजनात्मकता जहां लोककलाओं को जीवित रखे हुए हैं वहीं परम्परागत समझ विज्ञान के नित नये आविष्कार करती रहती है। वह प्रमाणित करती है कि जीने के अनेक रास्ते हैं। व्यवस्था के अनेक विकल्प हैं, बशर्ते हम आम लोगों से सौहार्द स्थापित करें, उनसे अन्तरंग रिश्ते कायम करें। इसीलिए कदाचित यह कहा जाता है कि जब किसी को आगे की राह न दिखाई दे तो उसे आमलोगों के पास जाना चाहिए।

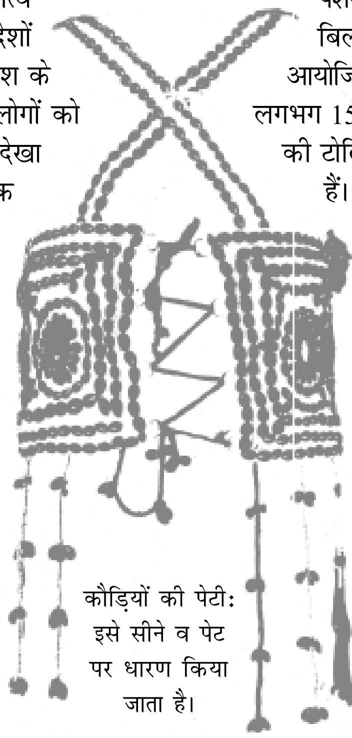

कौड़ियों की पेटी: इसे सीने व पेट पर धारण किया जाता है।

संचार, सूचना और मनोरंजन के नये माध्यमों ने व्यक्ति को नितान्त एकान्तप्रिय, घरघुसरा एवं आत्मकेन्द्रित बनाकर उसे तनाव, अवसाद एवं कुंठाग्रस्त कर दिया है जबकि वह स्वभावत: एक सामाजिक प्राणी है। समूह में रहना, विचरना व कर्म करना उसकी प्रकृति है। यह सामूहिकता, सामाजिकता, लोकसंस्कृति की जान है। इसी की रचनात्मक प्रतिछवियाँ, नौटंकी, रास, रामलीला, स्वाँग आदि लोकोत्सवों में देखने को मिलती हैं। रामकथा हो या पंडवानी का आयोजन, हजारों स्त्री-पुरुष इनमें घंटों बैठकर भाग लेते हैं। इनमें न कोई टिकट होता है न ऊँची-नीची श्रेणियों में बैठने की व्यवस्था। छत्तीसगढ़ का रावत नाच भी लोक सहभागिता का एक अद्वितीय उदाहरण है। इसे छत्तीसगढ़ का लोकोत्सव भी कहा जाता है।

सुव्यवस्थित ढंग से इस लोकोत्सव को मनाते हुए 28 वर्ष हो चुके हैं अर्थात् 1978 में इस की शुरुआत हुई थी। इस दौरान इसने न किसी सरकार से और न किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी से किसी रूप में सहायता ली है और न किसी प्रभावशाली व्यक्ति या संस्था द्वारा प्रायोजन की पेशकश को स्वीकार ही किया है। छत्तीसगढ़ के प्रमुख नगर बिलासपुर में यह अनोखा लोकनृत्य समारोह आरंभ से ही आयोजित हो रहा है। प्रतिवर्ष प्रबोधनी एकादशी से प्रारम्भ होकर लगभग 15 दिन तक यह चलता है। इस अवधि में रावत नर्तकों की टोलियाँ गाँव-गाँव में अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन करती हैं। शहरी गलियों, मोहल्लों में भी इसका प्रदर्शन चलता रहता है। समापन इसका बिलासपुर के शनीचरी बाजार में अरपा नदी के किनारे होता है। इस आयोजन ने इस बाजार का नाम ही बदलकर रावत बाजार कर दिया है। हजारों लोगों की उत्सुक आँखें लोकनर्तकों के हर्षोल्लास भरे इस प्रदर्शन को निहारती हैं। यह नृत्य सच्चे अर्थों में लोकनृत्य इस कारण से भी है कि अपनी परम्परागत वेशभूषा में रावत नर्तक जब दोहों का सस्वर उच्चार करते हैं तो दर्शकगण भी उनके सुर से सुर मिलाते हुए थिरकने लगते हैं। लोकवाद्यों की लय-ताल में उनके थिरकते पाँवों और चलती हुई लाठियों के सन्तुलन को देखना एक अद्भुत रोमांचकारी अनुभव होता है। पारम्परिक शस्त्रों के साथ तीव्रगति से होता इन नर्तकों का अंग चालन, श्रृंगार और पराक्रम को अनोखा सामंजस्य प्रदान करता है।

इन रावत लोकनर्तकों की साजसज्जा में भी उक्त सामंजस्य की झांकी देखी जा सकती है। ये सिर पर धोती की पगड़ी (पागा) धारण करते हैं जो रंगीन कागज के फूलों की माला से गोलाकार कसी होती है। इस पगड़ी में ये मोरपंखों की कलगी लगाते हैं। वक्षस्थल इनका रंग-बिरंगे कपड़ों से बने सलूके से ढका होता है। इसके ऊपर एक जाकेटनुमा पोशाक (पेटी) होती है जिस पर कौड़ियाँ टँकी होती हैं। रोशनी में इस पोशाक की झिलमिलाहट देखने लायक होती है। दोनों बाँहों में कौड़ियों का बना बंहकर बांधा जाता है। कमर के नीचे रंगीन छींट से बना चोलना पहना जाता है जिसकी लम्बाई घुटनों तक होती है। कमर से बड़े-बड़े घुंघरू वाली पेटी बंधी रहती है जिसे जलाजल कहा जाता है। नाचते वक्त ये घुंघरू बड़ी मीठी ध्वनि निकालते हैं। वृन्दावन की पीली मिट्टी (रामरज) से चेहरे को रँग कर हाथ में तेंदू

CMYK # 33

की लाठी लिये जब ये अल्हड़ चाल से चलते हैं तो इनकी छवि देखने लायक होती है। आँखों में काजल और माथे पर चन्दन का टीका, साथ में दोनों गालों और ठुड्डी पर काजल की बिन्दियाँ लगाकर ये अपने चेहरे को आकर्षक बनाते हैं। एक हाथ में लोहे या पीतल की ढाल और दूसरे हाथ में तेन्दू की लाठी लेकर अपने दल के साथ निकलने पर लगता है मानों आदिवासी योद्धा रणभूमि की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। परन्तु उनकी इस प्रस्थान क्रिया में भी बेखौफ मस्ती और चंचल अल्हड़पन कायम रहते हैं।

नर्तकों के इस दल में लोकवादकों का एक समूह भी शामिल रहता है। ये मोहरी, डफड़ा, टिमकी और निशान जैसे लोकवाद्य बजाते हैं। रावत नाच में नृत्य का काम अधिकतर यादव लोग करते हैं और वादन का काम गंधर्व करते हैं। इनमें एक ऐसा पुरुष भी रहता है जो स्त्री वेष धारण किये रहता है। इसे परी कहा जाता है। गायक, वादक, नर्तक मिलकर लगभग 50 सदस्यों का एक दल तैयार होता है जिसमें सभी पुरुष होते हैं। इन दलों के प्रदर्शनों में गाये जाने वाले दोहों की अर्थवत्ता भी उल्लेखनीय होती है :-

तेन्दूसार के लाठी भइया, ऊपर लगाये बूट
एक बार के मारे से, हाथी गिरे कि ऊंट।।

तेन्दूसार की लाठी भइया, सेर सेर घी खाय
बैरी गन के मुंड परै त, राई छाई हो जाय।।

चिरई मां, सुन्दर पतरेंगवा, सांप सुन्दर मनिहार।
बेटा मां सुन्दर, राउत के, जेखर शोभा बरनि न जाय।।

बैरी सम्मुख देख के, कायर जीव डराय हो।
परान हथेली मां राउत के, छाती रहय अड़ाय।।

नर्तक-वादक

उत्सव के दिन सारे बिलासपुर का माहौल राग-रंग मय हो जाता है। प्रभात की सुनहरी चमक वाली किरणों के साथ गांवों, ढाणियों से लोगों के जत्थे आने का क्रम शुरू हो जाता है और गोधूलि बेला तक सारा आयोजन स्थल एक रंग-बिरंगे जन सैलाब से भर जाता है। महोत्सव का समय सूर्यास्त से पहले निर्धारित रहता है। सारे छत्तीसगढ़ से लगभग पाँच हजार यादव नर्तक एक सौ दलों में समूहबद्ध हो प्रवेशद्वार से नृत्य वृत्त में आते हैं और एक-एक कर लाइन में खड़े होकर अपनी पारी का इन्तजार करते हैं। साँझ ढले बिजली जले इन दलों का क्रमश: प्रदर्शन शुरू होता है और ज्यों-ज्यों रात गहराती है, दर्शकों की संख्या बढ़ती जाती है। निर्णायकगण इन दलों की प्रस्तुतियों को बड़ी बारीकी से देखते हैं और श्रेष्ठ दलों का चयन करते हैं। समापन समारोह में इनको पुरस्कृत तथा सम्मानित किया जाता है। स्थानीय प्रशासन का मानना है कि देखनेवालों की संख्या एक लाख से कम नहीं होती। आश्चर्य है इतनी बड़ी भीड़ कभी ऐसी उच्छृंखल नहीं होती कि उसे नियंत्रित करने के लिये प्रशासन को भारी मशक्कत करनी पड़े, न ही छेड़छाड़ या चोरी-चकारी की अप्रिय घटना कभी घटती है। किसी छोटे-मोटे हादसे की बात भी कभी सुनी नहीं जाती। शासन-प्रशासन की भूमिका इस आयोजन में महज एक सुविधादाता (फैसिलिटेटर) की रहती है। सारा काम तो वास्तव में रावत नाच महोत्सव समिति ही सम्पादित करती है। उसी की देखरेख में सभी संभागी दलों के सदस्यों को नि:शुल्क खाना खिलाया जाता है।

इस आयोजन के साथ यह समिति लोक संस्कृति पर केन्द्रित एक वार्षिक पत्रिका भी इस अवसर पर निकालती है जिसका नाम 'मड़ई' (अर्थात् वनस्पतियों के मेल से बांस पर बनाई गई विजय पताका) है। यह पताका एक प्रकार से इस उत्सव का ब्रान्ड नाम है। इसके अब तक 17 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। 220 पृष्ठों की बहुत गंभीर जानकारी से भरपूर यह पत्रिका देशभर के लोकधर्मी पाठकों को नि:शुल्क वितरित की जाती है। इसका संयोजन, संपादन एवं वितरण वर्षों से डॉ.काली चरण यादव पूरी निष्ठा एवं श्रम के साथ कर रहे हैं। यद्यपि उनकी सहायता के लिए एक पाँच सदस्यों का सम्पादक मंडल और तीन सदस्यों वाला सहयोगी समूह भी है।

लोक संस्कृति के अस्तित्व को बनाये रखने का यह वृहद् अनुष्ठान सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर परोसे जाने वाले देसी-बिदेसी नाच गानों वाले फूहड़ मनोरंजन से तो हर तरह बेहतर होता ही है, विसंस्कृतीकरण और अपसंस्कृतीकरण के इस दौर में साम्राज्यवादी कूटनीतिक चालों को एक सशक्त चुनौती भी देता है। लोककला की इतने विशाल पैमाने पर सामूहिक प्रस्तुति न विखंडनकारी उत्तरआधुनिकता को और न शुद्ध नफा-नुकसान केन्द्रित बाजारवाद को पसन्द आती है। प्रत्यक्षत: कोई राजनैतिक लाभ की संभावना भी न दिखाई देने के कारण सत्तासीन तथा सत्ताकांक्षी राजनैतिक दलों की भी इसमें कोई विशेष दिलचस्पी दिखाई नहीं देती। इन सब ताकतों की यह बेरुखी ही इसकी निरन्तरता और स्वत:स्फूर्तता को बनाये हुए है अन्यथा जिन कलाओं पर इनका वरदहस्त उठा है, इतिहास गवाह है वे कलाएं एक प्रायोजित तमाशा भर बनकर आम-जन की भागीदारी से दूर हो गई हैं।

– सुरेश पंडित, 383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर-301001

संदीप साइलस

यूरोप ने देखा अद्भुत भारत

सदियों से भारत को पश्चिम में फकीरों, नटों और सपेरों के देश के नाम से जाना जाता रहा। हालांकि इतिहासकारों ने सिन्धु घाटी सभ्यता, निर्माण-कार्य में ईंटों, सरकारी काम में मोहरों के इस्तेमाल और नृत्यांगनाओं की मुद्रा के बारे में बहुत कुछ लिखा लेकिन भारत में किसी ने रुचि नहीं दिखाई। प्राचीन काल और मध्य काल में यात्रियों ने भी भारत की वह खास पहचान न बन पाई। सम्पदा, शासन-व्यवस्था और समृद्ध कला-रूपों का वर्णन किया, फिर भी भारत गूढ़ आकर्षण का केन्द्र नहीं बना। 'योग' का प्रचलन होने तक भारत की यही स्थिति रही। अनायास पश्चिम ने यह महसूस किया की ऐसे अद्भुत भारत के बारे में वास्तव में अभी बहुत कुछ जानना बाकी है जहां साधारण श्वास-प्रक्रिया एक चिकित्सा पद्धति में विकसित हो सकती है, ध्यान और चिंतन से कुण्डलिनी को जागृत किया जा सकता है; 'ओम्' नाम के दो अक्षरों में आत्मा का परमात्मा से मिलन का रास्ता निहित है।

इस वर्ष अक्तूबर-नवम्बर में भारत ने पश्चिम की ओर कदम बढ़ाते हुए यूरोप के उत्साहित पश्चिमवासियों को अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की झलक पेश की। इस क्रम में सबसे पहले म्यूनिख में अमृता शेरगिल की ऐसी समकालीन चित्र-कृतियां प्रदर्शित की गईं जो एन्द्रिकता के बेजोड़ और जीवंत नमूने थे। इसी से 'भारत उत्सव' की पहचान हुई। अमृता शेरगिल ने सदैव भारत की साधारण नारी का अपने रंगों में बहुत सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है और नारी के इस रूप को पश्चिमवासियों ने काफी पसन्द किया। भारत की नारी के शक्ति स्वरूप ने पश्चिम के दर्शकों को विस्मित कर दिया। कला में रुचि रखने वाले दर्शक सामान्य जन-जीवन में रंगों की कलात्मकता सराहे बिना नहीं रह सके। चित्रों में युवा, जोशीले और मदमस्त जीवन की छटाएं दिखाई दीं। कला के एक और रूप में नारी के ढलते स्वरूप की झलक प्रस्तुत की गई। एक चित्र में हाथी इस तरह मजबूती से खड़े हैं मानों उन्हें कोई विशेष कार्य सौंपा गया हो। अमृता शेरगिल का निर्भीक एवं बन्धनमुक्त व्यक्तित्व उनके चित्रों में

"तेजस में जीवन का आरम्भ 'हिरण्यगर्भ', जीवन से स्पंदित स्वर्णांकुर (अण्ड, गर्भ) के साथ होता है। यह जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश के पाँच आदिम तत्त्वों को एक साथ संयोजित करता है। इसकी नाभि से एक कमल की उत्पत्ति हुई, अतः इसकी ब्रह्माण्डीय प्रकृति पूरे देश में शोभायमान होती है। प्रदर्शनी दूसरी शताब्दी ई.पू. से 15वीं शताब्दी ई. तक के भारतीय इतिहास को समेटती है।"

आयोजन में शिरकत करतीं केन्द्रीय पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी (बीच में)

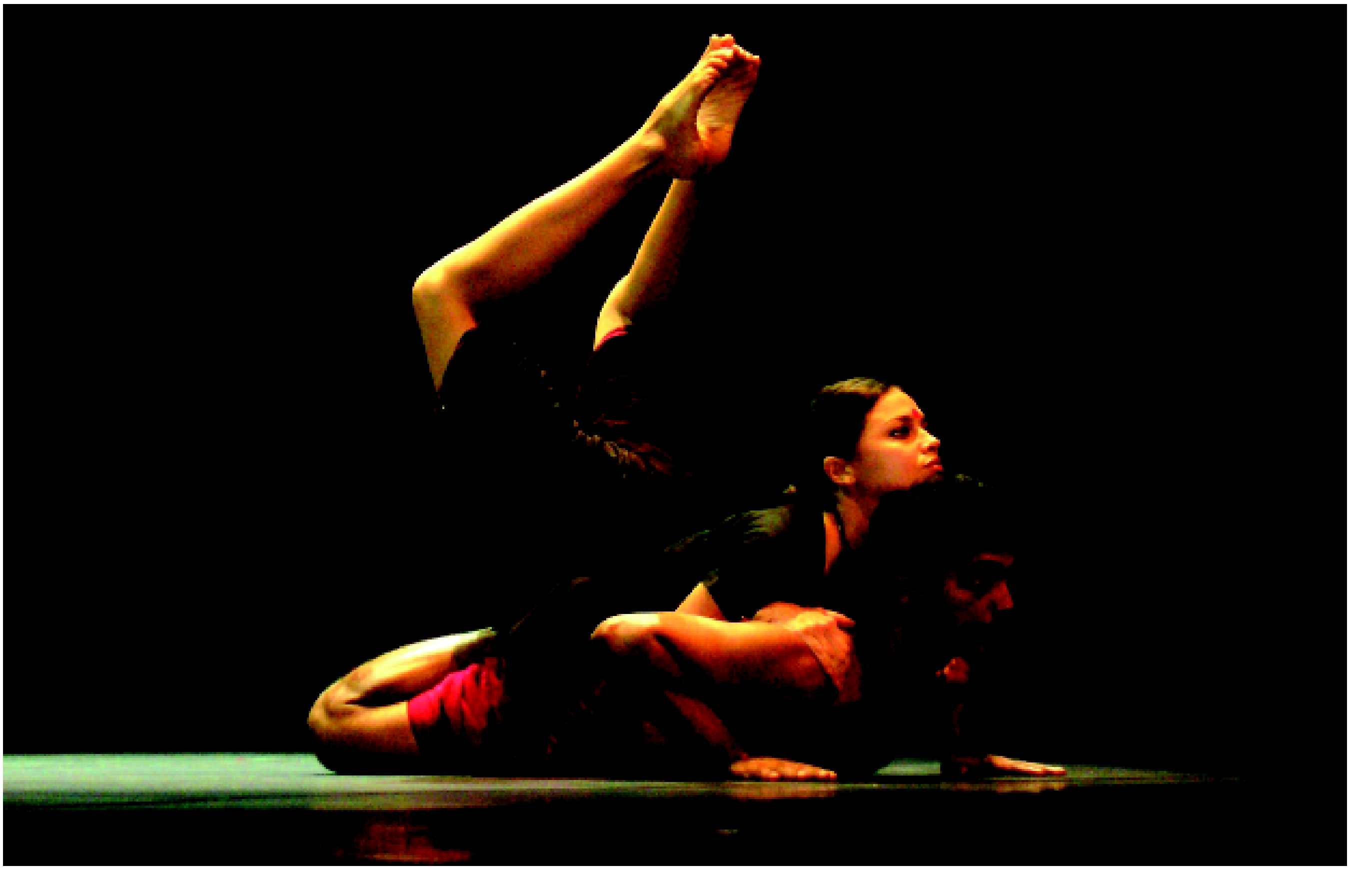

ध्वनि - आकर्षक नृत्य प्रस्तुति

भी झलकता है। अमृता शेरगिल की रचनाओं में प्रस्तुत उनके कुछेक निजी पत्रों से पता चलता है कि उनके मन में बसा कलाकार बिना किसी परवाह के एक पंछी की भांति खुले आकाश में विचरण करना चाहता है। पश्चिम मन्त्र-मुग्ध हो उठा और 'होस डेर कंस्ट' नामक प्रेक्षागृह का गौरव बढ़ा।

फ्रैंकफर्ट में भारत की पाण्डुलिपि परम्परा प्रदर्शित की गई। पत्तों, छाल, धातु-प्लेटों, चीरक, वस्त्र, प्रस्तर, कवचों, चावल के दानों पर लिखे इन शब्दों को जिस सुन्दरता से भारत में संजोया गया है, ऐसा कहीं नहीं देखने को मिलता। इस प्रदर्शनी का शीर्षक भी उतना ही उदात्त था। ''शब्द पावन है और पावनता ही शब्द है'' चित्रों की सहायता से लिखे पाठ ने 'कथा' वर्णन को और रुचिकर बना दिया। एक देश में इतनी भाषाएं और इतनी विविधता देखकर वास्तव में बहुत रोमांचक और अर्थपूर्ण महसूस होता है।

जैसे 'शब्द' से 'ध्वनि' आई, ठीक वैसे 'शब्द' के बाद 'ध्वनि' की प्रस्तुति की गई। फ्रैंकफर्ट के अत्यधिक प्रसिद्ध ओपेरा हाउस, आल्टे ओपर में भारत की जीवंत परम्पराओं के ताल और सुर गूंज उठे। उस संध्या में भारत, भावविभोर दर्शकों को यही बताना चाहता था कि चाहे शंखनाद हो या वीणा की झंकार, सभी चित्रों में संगीत की गूंज है। ड्रम, एकतारा, ढोलक, झांझर जैसे देशी यंत्र अन्य वाद्ययंत्रों की तरह परिष्कृत और आकर्षक नहीं हैं लेकिन इनसे निकलने वाले संगीत की लहरें, सितार और हार्मोनियम से कम मधुर नहीं हैं। 'ध्वनि' को देश के सभी हिस्सों से बहुत चुनकर प्रस्तुत किया गया; इसके माध्यम से अनेक परम्पराओं का संगीत और विभिन्न सुरों का तालमेल प्रस्तुत किया गया। बंगाल के बौल भिक्षुओं का गायन हुआ, राजस्थान के लंगाओं तथा मंगनियारों ने अपने गीत प्रस्तुत किए। ये जातियां जगह-जगह जाकर भगवान का गुणगान करती हैं। गीत गाते घूमना ही उनका जीवन है। उनके गीत गहन आनंद और उल्लास के स्रोत हैं। ये अपने हालात को भूलकर पूरी तल्लीनता से ईश्वर-स्तुति में खो जाते हैं। यह दृश्य बहुत अद्वितीय और उत्साहवर्धक बना। 'वाद्यमंजरी' की थपकों ने उत्सव, अभिनन्दन और रंगों की धूम मचा दी। ऐसा लग रहा था मानो वाद्यों की लयमयी थपक ने जीवन

में नए प्राण भर दिए हों। चन्द्रलेखा की 'शरीर' नामक नृत्यनाटिका में सौम्य भाव-भंगिमाओं की सहज प्रस्तुति उत्तेजित शरीर के आन्तरिक और बाह्य रूपों का अद्‌भुत मिलन था। चन्द्रलेखा की सूक्ष्म भंगिमाएं और उस पर उसके साथी नृतक की सन्तुलित मुद्राओं को देखकर अनिवर्चनीय दृश्य प्रस्तुत हुआ। मंच पर सूफी गायक मौजूद थे और परमात्मा से मिलन को तड़पती आत्मा के लिए ऐसे मदमस्त गीतों में 18वीं शताब्दी के कवि 'बुल्ले शाह' को याद किया गया। जब मैंने पूरे जोश और आनंद में डूबे उस्ताद डेबू को दर्शकों के रूबरू होकर अपनी कला और प्रस्तुति के मूड में देखा तो मुझे ध्वनि और लय का मनमोहक संगम देखने को मिला। उनके साथ मणिपुर के पंग चोलम ड्रमवादक इस तरह उन्मत्त उछल-कूद कर रहे थे जैसे भक्त, भगवान के चारों ओर नाच-गाकर उन्हें प्रसन्न कर रहे हैं। इस नृत्य में जीवन का जोश था और ऐसा लग रहा था कि स्वयं भगवान अपने लोगों से प्रसन्न होकर झूम रहे हों।

इस महोत्सव में सृजनात्मकता अपने चरम पर थी, सुर और

बोजार में तेजस् के उद्‌घाटन के लिए पधारती हुईं श्रीमती सोनिया गांधी

'तेजस्' : शाश्वत ऊर्जा - भारतीय कला के 1500 वर्ष'' - प्रदर्शनी का उद्‌घाटन करतीं श्रीमती सोनिया गांधी

संगीत मंत्र-मुग्ध करने वाले और आवाज का कार्यक्रम 'ध्वनि' अभिभूत करने वाला !

इसके बाद नवम्बर शुरू हुआ तो 'सूर्य का तेज' आकर्षण का बिन्दु बन गया और इस विषय पर मूर्तियां प्रस्तुत की गईं। बोज़ार, ब्रुसेल्स में 11 नवम्बर को यू.पी.ए. अध्यक्षा, श्रीमती सोनिया गांधी और बेल्ज़ियम के प्रधानमंत्री श्री गाय वर्होफ्स्टैड, जैसी प्रख्यात महानुभूतियों द्वारा ''तेजस् : शाश्वत ऊर्जा-भारतीय कला के 1500 वर्ष'' नामक प्रदर्शनी का उद्‌घाटन किया गया। इस भव्य प्रदर्शनी की संकल्पना की सूत्रधार डॉ. कपिला वात्स्यायन थीं और इस कार्य में मुख्य भूमिका निभाते हुए संग्रहाध्यक्ष श्री रानेश रे ने पूरे देश के कोने-कोने में घूम-घूम कर एक-एक करके कलाकृतियां जुटाईं और सुरुचिपूर्ण तरीके से उनका चयन किया और दिन-रात लगाकर रिकॉर्ड समय में प्रदर्शनी के आयोजन की व्यवस्था की। पूरा संस्कृति मंत्रालय इस कार्य में जी-जान से जुट गया। सरकारी तंत्र की यही विशेषता है। जरूरत पड़ने पर आकाश-पाताल एक कर देना और इस बार इसने यही करके दिखाया। अभूतपूर्व प्रतिबद्धता के बिना इतने कम समय में विदेश में इतनी बड़ी प्रदर्शनी लगाना बिल्कुल संभव नहीं था। इस अनुष्ठान में 'तेजस्' नामक इस मुख्य ऊर्जा स्रोत से प्राणान्वित हो इससे जुड़े सभी लोग, छोटे से लेकर बड़े तक, प्रदर्शनी के लिए अपनी कलावस्तुएं देने वाले राज्य संग्रहाध्यक्षों से लेकर केन्द्रीय पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी तक, सभी इसमें पूरी तरह समर्पित थे। अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के अध्यक्ष डॉ. कर्ण सिंह ने अपने कुशल नेतृत्व में द्विपक्षीय 'करार', अन्तर्राष्ट्रीय वचनबद्धता और अन्य महत्वपूर्ण बारीकियों आदि का पूरी निपुणता से संचालन किया।

CMYK # 37

प्रदर्शनी के विज्ञापन

'तेजस्' क्या है? डॉ. कपिला वात्स्यायन कहती हैं – '' 'तेजस्', दीप्ति, प्रभा, प्रकाश, ऊष्मा और शक्ति प्रथम प्रारम्भिक रचनात्मक प्रेरणा है। यह प्रज्ज्वलन और प्रदीप्त करना है, प्रकाशित करना और प्रकाशवान होना है। यह सत्त्व है, जगत् के पदार्थ का प्रथम तत्त्व और उससे उद्भूत उसके समस्त विकासज, भौतिक और मनोवैज्ञानिक। अंततोगत्वा यह ज्ञान की स्पष्ट नीली लौ है, ज्ञान जो भौतिक पदार्थ का परिवर्तनकारी अभिकर्त्ता है। तेजस आंतरिक चेतना की देदीप्यमान आभा है, शुद्ध एवं तीक्ष्ण, बाह्य की शक्ति एवं प्रकाश।''

1500 वर्षों को समेटते हुए इस विषयवस्तु पर भारत में मूर्तिकला पर प्रकाश डालना निश्चित रूप से एक अत्यंत दुष्कर कार्य था। भारत ने नि:संदेह विश्व को प्रभावित और आकर्षित किया है।

तेजस् में जीवन का आरम्भ 'हिरण्यगर्भ', जीवन से स्पंदित स्वर्णांकुर (अण्ड गर्भ) के साथ होता है। यह जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश के पाँच आदिम तत्त्वों को एक साथ संयोजित करता है। इसकी नाभि से एक कमल की उत्पत्ति हुई, अत: इसकी ब्रह्माण्डीय प्रकृति पूरे देश में शोभायमान होती है। प्रदर्शनी दूसरी शताब्दी ई.पू. से 15वीं शताब्दी ई. तक के भारतीय इतिहास को समेटती है। मूर्तिकला के प्रदर्शित नमूने मुख्यत: कुषाण, मौर्य, गुप्त, पाल-सेन, शुंग, गुप्तोत्तर, चंदेल, चालुक्य, पल्लव, चोल और सातवाहन, राष्ट्रकूट तथा होयसल-काकतीय शासन से संबंधित हैं।

प्रदर्शनी दर्शक को भारतीय चिंतन में यथाव्याख्यायित ब्रह्माण्डीय विकास की यात्रा कराती है, 'आदिम महासागर' के मंथन की पौराणिक कथा, 'सुरासुंदरियों', 'यक्षियों' का संसार, संयुग्मन का उत्सव, बौद्ध और जैन धर्म की प्रशांति, 'योगिनी' पंथ तथा प्रसिद्ध चोल कांस्य प्रतिमाएं।

प्रदर्श–मथुरा यक्षी

गंधर्व – ऐहोल

विनाश और परवशता की अवधियों के बीच भी सम्पूर्ण भारतीय इतिहास के दौरान कला जीवित रही।

''तेजस्'' मिथकों, परम्पराओं, वैदिक धर्म ग्रंथों, राजाओं और रानियों द्वारा कलाओं को दिए जाने वाले प्रश्रय, अपनी आस्था, विश्वास, परम्परा, कल्पना और समय की छाप अंकित करने वाले सहस्रों अनाम शिल्पकारों के कौशल को, 1500 वर्षों की अवधि को समेटने वाले इतिहास के सूत्र में आश्चर्यजनक ढंग से पिरोता है।

भारत ने अपने 'यक्षों' और 'यक्षियों' के माध्यम से, अपनी 'अप्सराओं' और 'नायिकाओं' के माध्यम से, अपने 'सूर्य' के माध्यम से अभूतपूर्व रूप से विश्व की ओर अपनी बाँहें फैलाई हैं।

''यदि सहस्र सूर्यों का प्रकाश अकस्मात् ही आकाश में प्रज्ज्वलित हो उठे, तो उससे उत्पन्न महाज्योति सर्वोच्च शक्ति की भव्यता के समान होगी।'' (भगवद् गीता)

तेजस में कुछ प्रसिद्ध प्रदर्श हैं – कमल, पाल 10वीं शती ई., मालदाह; कमलों पर फण फैलाए सात शीर्ष वाला फणधर, कुषाण, दूसरी शताब्दी ई., मथुरा; नाग, चालुक्य, 7–9वीं शताब्दी ई., आलमपुर; सीलिंग मैडेलियन : नाग, पूर्व चालुक्य, 6वीं शताब्दी ई., बादामी; मकर और नागराज, कुषाण, दूसरी शताब्दी ई., मध्य प्रदेश; यज्ञ वराह, प्रतिहार, 10–11वीं शताब्दी ई., ललितपुर; ककट जातक, शुंग, दूसरी शताब्दी ई., भारहुत; बाड़े के स्तम्भ पर यक्षी, कुषाण, पहली–दूसरी शताब्दी ई., संघोल (6); शालभंजिका, प्रतिहार, 10वीं शताब्दी ई., ग्वालियर; अप्सरा, प्रतिहार, 11वीं शताब्दी ई., मोरेना और खजुराहो (3); दूसरी शताब्दी ई. की यक्षियाँ, मथुरा; गंधर्व, पूर्व चालुक्य, 7वीं शताब्दी ई., ऐहोल; अग्नि, 14वीं शताब्दी ई., भुवनेश्वर; बुद्ध, पाल, 9वीं शताब्दी ई., सारनाथ; सूर्य, पाल–सेन, 12वीं शताब्दी ई., पूर्वी भारत; तथा कई अन्य प्रदर्श। कला के इन 166 नमूनों में से प्रत्येक के पीछे एक कहानी है। प्रत्येक भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट युग का वर्णन करता है। प्रत्येक यह सिद्ध करता है कि युद्ध की अव्यवस्था,

भारत सम्पूर्ण विश्व के लिए शांति में विश्वास करता है। भारत विश्व का आह्वान इन्हीं शब्दों में करता है जो 9वीं शताब्दी ई. के कश्मीर के रहस्यवादी कवि, अभिनव गुप्त ने कहे थे :

''इस अशांत जगत्
में मिले सभी को शांति और समृद्धि,
और हर कहीं हो
परिलक्षित संतोष का बाहुल्य।''

– संदीप साइलस
sandeepsilas@gmail.com
(भारत सरकार में वरिष्ठ अधिकारी एवम्
सुप्रसिद्ध यात्रा वृत्तांत लेखक हैं)
अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद – सतीश गुप्ता,
व. अनुवादक, संस्कृति मंत्रालय

CMYK # 39

भारत-पाक उपमहाद्वीप का बहु-संस्कृतिवाद

पद्मश्री डॉ० मोतीलाल जोतवाणी

> **"आजकल हम सभ्यताओं के संघर्ष (क्लैश ऑफ सिविलाइ-ज़ेशन्स) की बात करते हैं। लेकिन कल शाह लतीफ़ साईं सभ्यताओं को जोड़ने की बात कर रहे थे। उनके काव्य में कई धर्मों (हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और सिक्ख) का, कई भाषाओं (अरबी के क़ुरान, फ़ारसी में रूमी की मस्नवी, पंजाबी में नानक-वाणी और हिंदी में कबीर दोहावली) का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। मुझे लगता है, वे अविभाजित भारत के भक्ति-आंदोलन के अद्वितीय प्रतिनिधियों में से एक थे।"**

इस वर्ष के प्रारंभ में मुझे सिंध प्रांत (पाकिस्तान) के संस्कृति और पर्यटन विभाग के निदेशक का पत्र प्राप्त हुआ कि मैं 'हज़रत शाह लतीफ़ साईं' (सिंधी में सभी आदरणीय जनों को संस्कृत शब्द 'स्वामी' के अर्थ तद्भव शब्द 'साईं' का प्रयोग करते हैं) के 262वें उर्स के अवसर पर भिटशाह, सिंध (पाकिस्तान) में 16-17 मार्च, 2006 को आयोजित साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता करूं।

शाह लतीफ़ साईं (1689-1752) मेरे सर्वाधिक प्रिय सूफ़ी कवि रहे हैं। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में उनके जीवन काव्य पर 1973 में शोध किया था और वह शोध-ग्रंथ दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग ने ही 1975 में प्रकाशित किया था। इतने में मुझे सिंध सरकार के उपर्युक्त निदेशक ने लिखा कि सिंध सरकार का संस्कृति और पर्यटन विभाग उस शोध -ग्रंथ का 'री-प्रिंट' (पुनर्मुद्रण), एक आमुख के साथ, प्रकाशित कराना चाहता है और उसका लोकार्पण भी भिटशाह में आयोजित साहित्य सम्मेलन के अवसर पर होगा।

अंधा क्या चाहे - दो आँखें ? मैं बड़ा ही प्रसन्न हुआ। हाँ, हम दोनों (मेरी श्रीमती और मैं) देश-विभाजन के लगभग उनसठ साल बाद सिंध जा रहे थे। जब हम 14 मार्च, 2006 को कराची के मुहम्मद अली जिन्ना अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर उतरे, तो हमने सिंध की भूमि को प्रणाम किया। वहाँ खड़े किसी सह-यात्री की आँखों में सवाल टंगा देखकर मैंने उससे कहा, ''हाँ, हमने अपनी जन्मभूमि का दर्शन करने के लिए अट्ठावन साल से ऊपर लगा दिए हैं!''

हमने 16 मार्च को भिटशाह में स्थित शाह लतीफ़ साईं के मज़ार पर सज़्दा किया और उस पर परंपरागत चादर चढ़ाई। उसी दिन सुबह 11 बजे साहित्य सम्मेलन का विधिवत उद्घाटन हुआ। सभागृह के मंच पर सिंध संस्कृति और पर्यटन विभाग के मंत्री श्री क़मर मंसूर, सिंध में सिंधी विद्वानों की पहली पंक्ति में स्थित डॉ. ग़ुलाम अली अलाना, सिंध सरकार की संस्कृति और पयर्टन विभाग की सचिव श्रीमती महताब अकबर राश्दी, उसके निदेशक श्री मंज़ूर अहमद कनास्टो और यह जन (अध्यक्ष के रूप में) आसीन थे और उस में दो सौ से अधिक विद्वान बैठे थे और विदुषियां विराजमान थीं। मुझे लगा, यह पहली बार था कि आयोजकों ने भारत से शाह लतीफ़ साईं के किसी परस्तार (उपासक) को विशेष निमंत्रण देकर बुलाया था। मैंने इस बात को भारत-पाक उपमहाद्वीप के बहुवचनवाद (प्लूरलिज़्म) या बहु-संस्कृतिवाद (मल्टीकल्चरिज़्म) को सम्मान देना माना।

उस अवसर पर मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, ''आजकल हम सभ्यताओं के संघर्ष (क्लैश ऑफ सिविलाइज़ेशन्स) की बात करते हैं। लेकिन कल शाह लतीफ़ साईं सभ्यताओं को जोड़ने की बात कर रहे थे। उनके काव्य में कई धर्मों (हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और सिक्ख) का, कई भाषाओं (अरबी के क़ुरान, फ़ारसी में रूमी की मस्नवी, पंजाबी में नानक-वाणी और हिंदी में कबीर दोहावली) का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। मुझे लगता है, वे अविभाजित भारत के भक्ति-आंदोलन के अद्वितीय प्रतिनिधियों में से एक थे। भारतीय समाज में बहुवचनवाद या बहुसंस्कृतिवाद की एक बेजोड़ मूर्ति थे।''

आगे चलकर मैंने कहा, ''सिंध भूमि में जन्मे जलालुद्दीन अकबर (1542-1605) सोलहवीं-सत्रहवीं शती में अविभाजित भारत में हिंदू-मुसलमान एकता की दृष्टि से राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रवाद की सबसे ऊँची रौशन मीनार थे। कहना न होगा, अकबर आज़म और शाह लतीफ़ साईं सिंध के जाए थे और दोनों बहुवचनवाद या बहुसंस्कृतिवाद के अनोखे प्रतीक थे।

16 मार्च को भिटशाह में आयोजित साहित्य सम्मेलन में मैंने अपने संभाषण के अंत में कहा, ''शाह लतीफ़ साईं की सबसे प्रिय नायिका ससुई है, जिसका वर्णन 'शाह जो रिसालो' (शाह लतीफ़ का काव्य) के पांच सुरों (सर्गों) में हुआ है। ससुई शब्द संस्कृत के 'ससि'/'शशि' का सिंधी तद्‌भव रूप है। जैसा कि उसका नाम था, वैसी ही वह सुंदर थी। वह अपने प्रियतम पुन्हूँ की तलाश में पब नामक पहाड़ के धक्के खाती है। वह इस खोज में एक पल के लिए भी सुख-चैन से नहीं रहती है। शाह लतीफ़ साईं उसका स्वभाव जानकर कहते हैं :

ततीअ-धधीअ काहि, कान्हे वेल विहण जी,
मतां थिए ऊंदाहि, पेस न लहीं प्रींअ जो।

अर्थात् - चाहे गर्मी हो, चाहे ठंडी, सुख की सांस लेने की वेला नहीं है। ऐसा न हो कि (दिन के उजाले के बाद) अंधेरा हो जाए और तुम अपने प्रियतम पुन्हूं के पैरों के निशान न ढूंढ पाओ।

यहां महाकवि शाह लतीफ़ साईं ने ससुई से संबंधित सुरों में भारतीय प्रवृत्ति मार्ग का संदेश दिया है। उन्होंने उसके माध्यम से हमें 'चरैवेति चरैवेति' का पाठ पढ़ाया है और सदैव कर्मशील रहने को उत्साहित किया है।

भिटशाह के अतिरिक्त, मुझे 20 मार्च 2006 को सिंध विश्वविद्यालय, जामशोरो (हैदराबाद सिंध के नज़दीक) में शाह लतीफ़ साईं की सात नायिकाओं (ससुई, सुहणी, लीला, मूमल, मारुई, नूरी और सोरठ) पर बोलने का भी सुअवसर मिला। उस संभाषण की भूमिका बांधते हुए मैंने कहा, ''वृहत्तर सिंध में सिंधु नदी के किनारे चार वेदों की रचना हुई। उनमें से पहले ऋग्वेद में दर्शाया गया है कि हम मिलकर चलें (संगच्छध्वम्), अपनी बातचीत नेकनीयत से मिलकर (संवदध्वम्) और अपना ज्ञान सौहार्द से बांटें (सं वो मनांसि जानताम्)। संसार में आज की संगोष्ठी की तरह कितनी ही संगोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं, जिनका प्रारंभ 'संगच्छध्वम्' और 'संवदध्वम्' की सूक्तियों से होता है या होना चाहिए। आज भी हम इन सूक्तियों को लेकर एकत्रित हुए हैं।''

अपने विषय पर बोलते हुए मैंने कहा, शाह लतीफ़ साईं की सात नायिकाओं के चित्रण में 'सिंधियत' (सिंधीपन) उभरकर आई है और उससे बहुवचनवाद या बहुसंस्कृतिवाद, छलक-छलक उठा है। मानव-प्रकृति में जो वांछनीय तत्व हैं (जैसे - कर्मशीलता, प्रेम, अपरिग्रह, अद्वैत, भक्ति, नम्रता, त्याग), वे सभी तत्व इन नायिकाओं के जीवन में प्रतिबिंबित हैं। चूँकि अविभाजित भारत के पश्चिमोत्तर में सिंध, पंजाब, गुजरात और राजस्थान के आख्यान लगभग एक से रहे हैं, इसलिए सिंध के ससुई-पुन्हूं और सुहिणी-मेहार आख्यान पंजाब में ससी-पुन्नू और सोहनी-महिवाल आख्यानों से मिलते-जुलते हैं, और सिंध के मूमल-राणो और सोरठ-राइ डियाच क्रमशः राजस्थान और सौराष्ट्र-गुजरात के इन्हीं नामों से प्रसिद्ध आख्यानों से मेल खाते हैं।

ससुई पुन्हूं

हम यहां ऊपर ससुई नायिका से परिचित हो चुके हैं और उसके चरित्र के विशिष्ट तत्व कर्मशीलता से अवगत हैं। शाह लतीफ़ साईं की अन्य नायिका सुहिणी प्रेम की प्रतीक है। सुहिणी-मेहार आख्यान में बताया गया है कि मेहार नदी के उस पार सुहिणी से आधी रात को मिलने जाता था। एक बार वह अंधेरे में नदी पार करते हुई बुरी तरह से जख़्मी हो गया। फिर तो सुहिणी एक घड़े को तैरने का साधन बनाकर दूसरे किनारे जाती थी और अपने प्रियतम से मिलती थी। प्रभात होने से पहले वह अपने सांसारिक घर को लौट आती थी।

जब पक्के घड़े की जगह कच्चा घड़ा रखे जाने पर सुहिणी मंझधार में कच्चा घड़ा गल जाने से डूबने को हुई तो वह बड़ी खुश

सुहिणी

हुई। उसने सांसारिक साधनों पर से भरोसा हटाकर, अपने सारे काम उसी परम सत्ता पर छोड़ दिए। शाह लतीफ़ साईं ने सुहिणी के इस 'तवक्कुल' (परम सत्ता पर विश्वास) का उल्लेख निम्नलिखित 'बैत' (दोहा परिवार के छंद) में किया है :

पाण म खणिजि पाण सें, वसीला विआइ,
इश्क सां उठाई, पेरू प्रियां जे पार डे।

अर्थात् – अपने साथ खुद को न लो (खुदा को लो)। सांसारिक साधनों पर से भरोसा हटाओ। प्रेम से अपने पांव प्रियतम की ओर बढ़ाओ।

शाह लतीफ़ साईं लीला-चनेसर आख्यान के द्वारा पांच विकारों में से एक विकार लोभ-लालच त्यागने का परामर्श देते हैं। लीला एक छोटे-मोटे राज्य की रानी थी। वह अपने पति राजा चनेसर के साथ सुख के दिन बिता रही थी। लेकिन उसने किसी अन्य राज्य की राजकुमारी कौंरू को अपने महल में दासी होकर रहने दिया और

लीला चनेसर

उससे मणि-माला की एवज़ में अपने पति चनेसर को एक रात के लिए ही सही, बेच दिया। फिर क्या था? सुबह होने पर चनेसर को लीला की सौदेबाज़ी का पता चल गया और उसने लीला का परित्याग कर दिया। अब लीला खून के आँसू बहाकर बहुत पछताने लगी। शाह लतीफ़ साईं लीला से कहलवाते हैं :

मणिए मथे जे हुआ, तिनि चिटनि फेरियुमि चितु,
हार खटदियीत होड़ में, नेबहु थींदुमि नितु,
कौरुंअ जो किर्तु, मूंहां मथाहों थिवो।

अर्थात् – मणि पर प्रकाश झलक-झलक उठता था और मेरा चित्त उन झलकियों ने फेर दिया। मैंने सोचा, (दासी के भेष में) राजकुमारी कौंरू से बाज़ी जीत जाऊंगी। एक रात ही की तो बात है, वह मेरे पति और उसकी चाहत के साथ इस महल में भले ही रह ले। पर मुझे क्या पता था कि मुझे चनेसर से ही हाथ धोना पड़ेगा। कौंरू का कृत्य मेरे कृत्य से कहीं बढ़कर पाया गया।

यदि हम अद्वैत की दृष्टि से विचार करेंगे, तो हमें लगेगा कि मूमल-राणो आख्यान में मूमल के चरित्र में भी बड़ी कमी देखने को मिलेगी। जैसे लीला ने कौंरू को चनेसर के साथ एक रात बिताने दी, वैसे ही मूमल ने भी अपने पति राणो का इंतजार करते-करते अपनी बहन सूमल को राणो का भेष पहनाकर राणो के साथ एक बिस्तर पर होने का झूठा स्वांग करती है। इस तरह मूमल उन दोनों (मूमल-राणो) में स्थापित अद्वैत में दरार डाल देती है। वह राणो को खेल समझकर एक कृत्रिम राणो (सूमल) से प्रेम का अभिनय करती है और उसे (राणो को) खो देती है। अब तो वह भी खून के आँसू बहाकर बहुत पछताने लगती है। शाह लतीफ़ साईं की वाणी में वह अपने आप से कहती है :

राणो भांयो रांदि, बिओ किअं विड्डु राईएं,
वरु विडूणो इहें, जिअं पर पुजितोइ पांदि,
हइ ! भगइ हेकांदि, सोढो सारींदीअे घणो।

अर्थात् – राणो को खेल-मसख़री समझकर तुमने अपनी बहन सूमल में बनावटी राणो को देखा। वैसे ही ये पति लोग बड़े गुस्सैल होते हैं, तिस पर तुम्हारे पति ने तुम्हें किसी पराये व्यक्ति के साथ एक बिस्तर पर सोते हुए देखा। हाय ! तुमने यह क्या किया ? उसके साथ मिलाप के रंग में भंग डाल दिया। अब तो तुम उसे बहुत-बहुत याद करोगी।

यहाँ हम ध्यान से देखेंगे, तो हमें लगेगा कि लीला ने भी चनेसर को लेकर प्रेम का बंटवारा किया था। शायद इसीलिए यह बात शाह लतीफ़ साईं के अवचेतन में आई और उन्होंने जहां अन्यान्य

मारुई

नायिकाओं से संबद्ध सुरों के शीर्षक एकवचन में (जैसे – सुर ससुई, सुर सहिणी, सुर मारुई, सुर नूरी और सुर सोरठ) दिए, वहाँ उन्होंने लीला और मूमल विषयक सुरों के शीर्षक बहुवचन में (जैसे – सुर लीला-चनेसर और सुर मूमल-राणो) प्रयुक्त किए। वे महाकवि थे। उन्होंने शीर्षकों में भी अद्वैत-द्वैत का ध्यान रखा।

सुर मारुई में देशभक्ति की भावना को रूपांकित किया गया है। उमरकोट का शासक उमर अपनी एक शासिता मारुई को उसके अपने गांव के कुंए से भगाकर ले गया। उधर उसके महल में मारुई ने बेशकीमती कपड़े पहनने और लज़ीज खाद्य-पदार्थ खाने से इनकार कर दिया। वह अपने वतन मलीर को और अपने मंगेतर खेतसेन को खूब याद करती है और उनसे अपने जीते जी या मरकर मिलने की आस रखती है।

वाझाए वतन खे, सारे डियां साहु,
हीउ सिरु साड़ेह सान्हूं, मुंहिंजो निजि, मियां !
मुयाई जियां, जे बअे मढु मलीर ड्।

अर्थात् – मैं अपने वतन का स्मरण कर अपना प्राण त्यागूं। हे मियां उमर ! मेरी लाश मेरे वतन मलीर को ले जाना। अगर मेरी लाश पहुँच जाए, तो मैं मरकर भी अमर हो जाऊँगी।

फिर आप नायिका नूरी की नम्रता-भावना को भी देखें। नूरी एक मछुआरिन थी, जो चौदहवीं शती में सिंध के समा घराने के राजा तमाची के राज्य में रहती थी। वह कींझर नामक झील के किनारे

सोरठ राई डियाच

मछुओं-मछुआरियों की बस्ती में रहती थी और टोकरियों में मछलियां भर-भरकर बाजारों में बेचने जाती थी। राजा तमाची नम्रता से भरी नूरी पर फ़िदा हो गया। उसने उसे पट-रानी बनाया। पर वह अपने राजा को बार-बार कहती थी :

तूं सयो, आऊं गंदिरी, मूं में ऐबनि लख,
कारण रब अलख, मतां माङरि मटिएं !

अर्थात् – तुम समावंश के राजा हो और में गंदिरी जाति की एक मछुआरिन हूँ। तुम्हारा और मेरा मेल नहीं है। तुम्हें अलक्ष्य खुदा की सौगंध है, ऐसा न हो कि तुम मुझ गंदिरी/माङरि जाति की मछुआरिन से मुंह फेर लो।

उसकी ऐसी नम्रता-भावना से अभिभूत होकर राजा तमाची ने उसके साथ ऐसा प्रेम किया कि वह एक बार मछलियाँ पकड़ने का जाल अपने कंधे पर रखकर मछुओं-मछुआरियों की बस्ती में जाकर बैठा। वाक़ई, प्रेम ऊँच-नीच को डुबो देता है।

अंतिम सोरठ-डियाच आख्यान में दानवीर राजा राइ डियाच उसके अपने महल में आए संगीतकार बीजल को उसके कहने पर सिर काटकर देता है। तब उसकी रानी सोरठ भी राइ डियाच से प्रेम की भावना से प्रेरित होकर अपने को क़ुर्बान कर देती है। वैसे राइ डियाच ने उसके न होने पर अपनी रानी से क़ुर्बानी कभी नहीं चाही थी, परंतु वह स्वयं उस पर क़ुर्बान हुई थी। शाह लतीफ़ साईं सोरठ की ओर से कहते हैं :

अलविदा, वो ! अलविदा, जानी कयोइ जुदा,
हाय हाय ! सोरठ थी सारे !
सोरठ सरतियुनि विच में, वो ! डभी ओसारे !
कंधु मुंहिंजो काटियो, नींहं संदे नारे !

सोरठ अपनी सहेलियों के बीच रहकर अपने पति राजा राइ डियाच की दानवीरता का स्मरण करती है और कहती है : अलविदा ! तुम मुझसे अलग होकर जा रहे हो। तुम मेरे जीने का कारण थे। अब मैं भी अपने प्राणों का त्याग कर दूंगी।

अपने पति के बिछोह में उसकी उपर्युक्त सिंधी बानी में 'वो' की दर्द-भरी पुकार श्रोता/पाठक के मन की वादी में प्रतिध्वनित होकर उठती है और भारत-पाक उपमहाद्वीप के सिंधु-गंगा मैदानों में ऋग्वेद की ''एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'' में निहित बहुवचनवाद या बहुसंस्कृतिवाद को उद्घाटित करता है।

– पद्मश्री डॉ॰ मोतीलाल जोतवाणी,
बी-14, दयानंद कालोनी, लाजपतनगर, नई दिल्ली-110024
(लेखक सिन्धी के लब्धप्रतिष्ठ सूफी विद्वान और शिक्षाविद् हैं।)

सुधीर कुमार

बुल्ला की जाणां मैं कौण...

सादगी, सच्चाई और ईमानदारी के प्रतीक अठारहवीं शती के पंजाब के सूफी संत बुल्ले शाह आज भी सूर्य की किरणों की भाँति अपनी चमक से जहान को रोशन कर रहे हैं। बुल्ले शाह के कलाम में इनकी सोच, इनका दिल बाकायदा महसूस किया जा सकता है। ऐसे मनचले शायर दुनिया में बहुत कम हुए हैं। इनके द्वारा कहे गए बन्धनहीन और आडम्बररहित कलामों में धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों जैसे ऊँच-नीच, जाति-पांति और छुआ-छूत की निंदा की गई है। इन्होंने निडरता से हिन्दू-मुस्लिम समाज की कट्टरता की निंदा की और तत्कालीन राजा रजवाड़ों द्वारा हो रहे शोषण और अत्याचार के खिलाफ भी कलाम किया है। धर्म के प्रति अपने उदार दृष्टिकोण और खुले विचारों के कारण कई कट्टरपंथी इनका सम्मान नहीं करते।

इनका बेबाक और दबंग लहजा देखकर बेअख्तियार ये शेर जबान पर आ जाता है।

''काफिर अस्कम मुस्लमानी मरा दरकार नियत
हर रग मन तार गस्त हाजत जभार नियत।''

इनके द्वारा गायी गई शायरी और कलाम आज भी कव्वालों द्वारा गाई जाती है। लोग इनके गाये कलाम को बुदबुदाते भी रहते हैं।

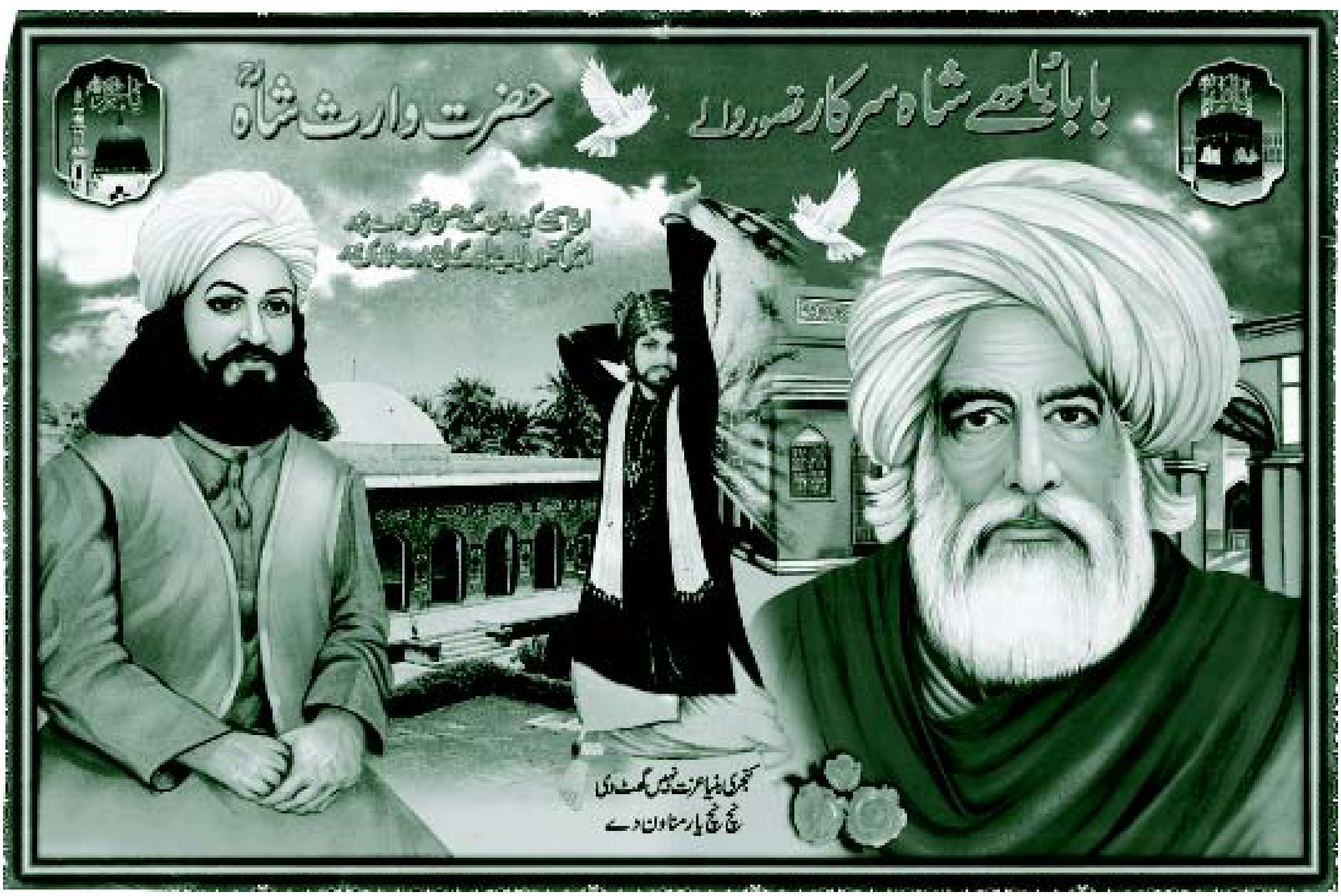

पाकिस्तान में बुल्ले शाह की मज़ार और बुल्ले शाह

मेले के अवसर पर कलाकार

सैय्यद बुल्ले शाह के पिता सैय्यद सखी दुरवेश मोहम्मद थे जो उच्च गीलानीया से आये थे जो सिंध सूबा में शामिल था। वर्तमान में यह कस्बा जिला बहावलपुर पंजाब राज्य का इलाका है। बुल्लेशाह शेख अब्दुल कादिर जीलानी के परिवार से ताल्लुक रखते थे। इनका जन्म लगभग सन् 1680 ई. में पंडो के गांव में हुआ था। एक सौ पांच साल की उम्र में ई. सन् 1785 में ये संसार से विदा हुए। इनका बचपन का नाम अब्दुल्ला शाह था। प्रारंभिक शिक्षा अपने वालिद (पिता) से पाकर ये कसूर गये जहां इन्होंने माध्यमिक शिक्षा शिक्षक ख्वाजा हफीज़ भुलाम मुर्ताया कसूरी से ग्रहण की। बाद में समाज की वर्तमान स्थिति को देखकर ये समाज की ओर से विमुख हो गए।

इनके आध्यात्मिक गुरु (पीर) शाह अनायत कादिरी सत्तारी थे। सत्तारी निम्न जाति के थे। इनकी सादगी और सच्चाई देखकर सैय्यद भुल्ले शाह इनको मुरीद बनाने के लिए दोपहर को सत्तारी के पास ले गये। ये दोपहर की नमाज़ पढ़ने के लिए साथ में गये। गुरु की परीक्षा में सफल होने के पश्चात् गुरु ने इनसे पांच सौ रुपये नकद, पांच सौ रुपये का घोड़ा, पांच सौ रुपये की तलाई कंगन की एक जोड़ी और पांच सौ रुपये की एक पोशाक मांगी। बुल्ले शाह ने इन सभी की पूर्ति की और उनके मुरीद हो गये। सत्तारी के शिष्य होने के लिए लोगों ने इन्हें मना किया था क्योंकि वे उच्च वर्गीय परिवार से थे जबकि सत्तारी निम्न परिवार से थे। इन्होंने सामाजिक बुराइयों की अपने कलाम में कठोर निंदा की है और विरोध किया है।

इन्होंने अपने आप को पहचाना। अल्लाह के प्रति विश्वास से बढ़कर मानवता, सच्चाई और सादगी को ये महत्वपूर्ण मानते थे।

सैय्यद बुल्ले शाह जब छः साल के थे तभी से कलाम या शायरी करना प्रारम्भ किया था। एक बार ये खेल रहे थे तभी इनके पिता ने रस्सी से इनकी पिटाई की थी जिस पर इन्होंने निम्न कलाम कहा था।

''लोका दिया जप मालिया
ते बाबे दा जप माल
सारी उमरा माला फेरी
एक न खुत्था दाल
चीना इंच छड़ेन्दा लाल।''

सैय्यद बुल्ले शाह के कलाम तत्कालीन समय अर्थात् 17वीं और 18वीं शताब्दी के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कहे गए थे। इन्होंने अपनी जुबान पंजाबी में ही कलाम कहे हैं। इनकी भाषा शैली एक जैसी है। अर्थयुक्त शब्दों और आम लोगों की भाषा में आपने अपने कलामों में सामाजिक मुद्दों को उठाया है। राजा रजवाड़ों के दरबार में जाकर इन्होंने कभी भी कलाम नहीं कहा। अल्लाह और मानवता के प्रति प्रेम को केन्द्र बिन्दु बनाकर इसे आपने आत्मसात किया। इनकी रचनाओं में तात्कालिक समाज के वातावरण और स्थान का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सैय्यद बुल्ले शाह के कलामों में मूलतः मन की शुद्धता, पवित्रता पर विशेष बल दिया गया है। इन्होंने अपनी सादगी, सच्चाई के सहारे ही अल्लाह से गहरा संबंध स्थापित किया। अपने को अल्लाह के बंदे

“सैय्यद बुल्ले शाह के कलाम तत्कालीन समय अर्थात् 17वीं और 18वीं शताब्दी के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कहे गए थे। इन्होंने अपनी जुबान पंजाबी में ही कलाम कहे हैं। इनकी भाषा शैली एक जैसी है। अर्थयुक्त शब्दों और आम लोगों की भाषा में आपने अपने कलामों में सामाजिक मुद्दों को उठाया है।”

CMYK # 45

> “
> **हजरत सैय्यद बुल्ले शाह दुर्भाग्यपूर्ण हिन्दुस्तान- पाकिस्तान के बंटवारे के बाद पाकिस्तान चले गये। परन्तु आज भी भारतीयों को बाबा बुल्लेशाह के प्रति अपार श्रद्धा व प्रेम है। भारत और पाकिस्तान सीमा पर विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद लोग इनके दरबार पर आज भी जाते हैं।**
> ”

समझकर अपना जीवन व्यतीत किया।

सैय्यद बुल्ले शाह अपने कलामों में न केवल मुस्लिम समाज को ही बल्कि हिन्दू समाज को भी साथ लेकर चले हैं। इनका केन्द्रीय विचार भक्ति था। इन्होंने जनसाधारण के समक्ष सरलता, सादगी और प्रभावयुक्त शैली से सच्चाई, वास्तविकता, साधना पर विश्वास, आचरण में पवित्रता लाने पर बल दिया।

''मुसलमां सोये तु चढ़ दे
हिन्दू चढ़ दे गोर''

सैय्यद बुल्ले शाह ने आडम्बरों का खण्डन प्रेम भक्ति की साधना की पृष्ठभूमि के रूप में किया। इनका मुख्य उद्देश्य विभिन्न धर्मों में व्याप्त सत्य से सबको अवगत कराकर सबमें एकता स्थापित करना था। लोगों का ध्यान प्रेम भक्ति के रूप में आकृष्ट कराना चाहते थे।

सैय्यद बुल्ले शाह ने मानव मात्र और मानवता को अल्लाह व ईश्वर से ऊपर माना है। इन्होंने मानव मात्र में एकता के लिए बुराई और आडम्बरों का खण्डन किया है। उनका प्रहार एक रचनात्मक कदम था जिसका लक्ष्य मानवतावाद की स्थापना और अल्लाह की प्राप्ति था।

बुल्ला की जाणा मैं कौण
ना मैं मोमन विच्च मसीतां
ना मैं विच्च कुफर दीआं रीतां
ना मैं पाका विच्च पलीता

निष्कर्षत: सैय्यद बुल्ले शाह एक महान संत थे जिन्होंने समाज में व्याप्त विभिन्न विसंगतियों तथा समस्याओं को दूर कर सभ्य समाज स्थापित करने का प्रयास किया। आज वर्तमान में कसूर में इनकी समाधि पर सभी धर्म और जाति के लोग आते हैं और मन की मुराद मांगते हैं। लोगों का विश्वास है कि सैय्यद बुल्ले शाह के दरबार पर दिल से जो भी मांगा जाता है, वह पूरा होता है। वे मानते थे कि प्रभु को पाना बहुत आसान है, केवल मन को सांसारिक विषयों से हटाकर प्रभु में लगाना है।

''बुल्लया रब दा की पावणा?
ऐथों पुटणां ते ओथे लावणां।''

इनका विश्वास था कि मानव को अच्छे कार्यों को करना चाहिए क्योंकि यह संसार अस्थायी है जहां से सभी को एक दिन चले जाना है। जिसने स्वयं और इस संसार को जान लिया वह सच्चा अल्लाह का बेटा है।

''निंदा गरदा बुढा गरदा आऊ अपनी वारी
किह बीबी किह बानदी लौण्डी की धोबन भटीयारी।''

सैय्यद बुल्ले शाह सन् 1785 ई. में इस संसार से दूर चले गये, परन्तु इनकी यादें और कलाम आज भी किरण की भांति संसार को प्रकाशित कर रहे हैं।

लाहौर से 42 कि.मी. दूर कसूर जिले में हजरत सैय्यद बुल्ले शाह का दरबार है। जहां प्रतिदिन हजारों श्रद्धालु मत्था टेकने जाते हैं। आज हजरत सैय्यद बुल्ले शाह के जीवन पर कई विश्वविद्यालयों में शोधार्थियों द्वारा शोध किया जा रहा है।

हजरत सैय्यद बुल्ले शाह दुर्भाग्यपूर्ण हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे के बाद पाकिस्तान चले गये। परन्तु आज भी भारतीयों को बाबा बुल्लेशाह के प्रति अपार श्रद्धा व प्रेम है। भारत और पाकिस्तान सीमा पर विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद लोग इनके दरबार पर आज भी जाते हैं। इनके गाये हुए कलाम भारतीयों के मध्य काफी मशहूर हैं।

- सुधीर कुमार शर्मा, रिसर्च स्कॉलर,
सेंटर फॉर बुद्धिस्ट स्टडीज़, दिल्ली युनिवर्सिटी,
एस-157(ए), तीसरी मंजिल, पांडव नगर,
दिल्ली-110092

राधाकान्त भारती

हिन्द महासागर का सांस्कृतिक महत्व

समुद्रों का मानव जीवन के लिए बड़ा महत्व है। मानव जीवन पर समुद्र का प्रभाव मानव के साधारण कार्यक्षेत्र से कहीं अधिक बढ़कर है। सच तो यह है कि समुद्रों का प्रभाव जीवन के प्रत्येक पहलू पर पड़ता है।

वायु के समान जल भी मानव जीवन के लिए अनिवार्य रहा है। सच तो यह है कि सबसे पहले जो बस्तियां बसीं वे बड़ी नदियों के तटों पर ही थीं। मानव सभ्यता सबसे पहले दजला (टिग्रिस), फुर्रात (यूफ्रीटीज), नील और सिंधु नदी के तटों पर ही विकसित हुई थीं। लेकिन नदी तटों पर रहने वाले मानवों ने शीघ्र ही समुद्रों की विशालता का ज्ञान प्राप्त कर लिया, क्योंकि भूमि पर बहने वाली नदियां और नाले अंततोगत्वा समुद्रों और महासागरों में ही जाकर मिल जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समुद्र तटों पर भी मानव सभ्यता ने अपने पैर जमाए। विशेष रूप से ऊष्ण कटिबंध और इसके आसपास के क्षेत्रों में मानव सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण भारत के तटों पर हजारों वर्ष पहले बस्तियां बस गयी थीं। सारे पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तटों पर सभ्य और शांतिप्रिय मानव ने अपनी बस्तियां बसा ली थीं। इनमें रहने वाले लोग पड़ोसी देशों के साथ व्यापार करते थे। इसका प्रमाण तमिल हुए हैं, उनसे भी पता चलता है कि समुद्र के रास्ते दूसरे देशों से व्यापार कितना व्यापक था।

जो लोग समुद्र तट के समीप रहते हैं और समुद्र से परिचित हैं, उन्हें पता है कि वह क्या होता है। लेकिन जो समुद्र से दूर रहते हैं, उन्हें समुद्रों के आकार और महत्व का कोई ज्ञान नहीं होता। उन्हें यह जानकर तनिक अचंभा हो सकता है कि पृथ्वी के लगभग तीन चौथाई भाग पर महासागर है, भूमि तो पृथ्वी का कुल एक चौथाई भाग है। अंतरिक्ष यात्रियों ने अंतरिक्ष में यात्रा करते हुए पृथ्वी को देखा है और इस बात की पुष्टि की है। उन्होंने यह कहा है कि पृथ्वी तो पानी से भरा ग्रह है। अंतरिक्ष में उड़ान के समय अंतरिक्ष यात्रियों को पर्वतों की ऊंचाइयाँ उतनी नहीं दिखीं जितनी कि महासागरों के नीचे जल की चमक, जो दूर-दूर तक फैली हुई थी। हाल ही के समय में मानव ने समुद्र के महत्व को समझा है। इस कारण समुद्र और उसमें छिपे पदार्थों का अध्ययन बड़े जोर-शोर से होने लगा है। भारत में भी विद्वान हों कि जनसाधारण, सभी का ध्यान समुद्र की ओर गया है। अब समय आ गया है कि हम सब इस बात को समझ लें कि हमारे देश के आसपास जो समुद्र हैं, उनका कितना महत्व है और अपने देश की समृद्धि और कल्याण के लिए हम उनका उपयोग करें। अब इस उद्देश्य से हिन्द महासागर का उपयोग होने लगा है।

CMYK # 46

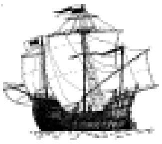

समुद्रों का मानव जीवन के लिए बड़ा महत्व है। मानव जीवन पर समुद्र का प्रभाव मानव के साधारण कार्यक्षेत्र से कहीं अधिक बढ़कर है। सच तो यह है कि समुद्रों का प्रभाव जीवन के प्रत्येक पहलू पर पड़ता है। पृथ्वी पर जलवायु कैसी होगी उसके नियामक समुद्र ही हैं। यहां हम केवल इतना कह देना चाहते हैं कि पृथ्वी पर होने वाली सारी वर्षा और उस पर चलने वाली हवाएं उन समुद्रों से ही उत्पन्न होती हैं, जो चारों और फैले हुए हैं। हमारे दैनिक जीवन में बहुत सी ऐसी आवश्यक वस्तुएं हैं, जिनका स्रोत समुद्र ही है। समुद्रों से केवल मछली ही नहीं मिलती, और भी बहुत सी वस्तुएं प्राप्त होती हैं। हाल के कुछ समय में तेल, प्राकृतिक गैस, कोयला और कई अन्य खनिज पदार्थ समुद्र के तल से निकाले जाने लगे हैं। समुद्र माल को एक देश से दूसरे देश ले जाने का माध्यम भी हैं। इसमें संदेह नहीं कि विमान बहुत अधिक संख्या में चलने लगे हैं, फिर भी खाद्य पदार्थों, कच्चे माल और निर्मित वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में समुद्री जहाजों की भूमिका अपार है। परिवहन और संचार के क्षेत्रों में समुद्र से जो सुविधाएं मिलती हैं वे इतनी व्यापक और प्रभावी हैं कि उनके स्थान पर पृथ्वी या वायु के माध्यम से वैसी सुविधाओं की व्यवस्था करना असंभव है। नये देशों पर विजय प्राप्त करने में भी समुद्रों की भूमिका सर्वविदित है। सच तो यह है कि समुद्री यात्रा की व्यवस्था होने के बाद ही कई नए देशों की खोज संभव हो सकी और एक नयी विश्व सभ्यता ने जन्म लिया। प्रतिरक्षा के क्षेत्र में भी समुद्र महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गए हैं। दूसरे विश्वयुद्ध में मित्र देशों की नौसेनाओं की शक्ति ने ही उन्हें अंततोगत्वा विजयी बनाया। वायु सेना के क्षेत्र में धुरी शक्तियों, जर्मनी, इटली और जापान का वर्चस्व था लेकिन वे मित्र राष्ट्रों के आगे टिक नहीं सकीं। आज भी नौसेना की ही शक्ति है जो दो देशों के बीच झगड़े की स्थिति में रक्षा की पहली पंक्ति होती है और आक्रमण को प्रभावी ढंग से रोकने में सफल होती है। इस रूप में हमारे हिन्द महासागर का महत्व बढ़ा है।

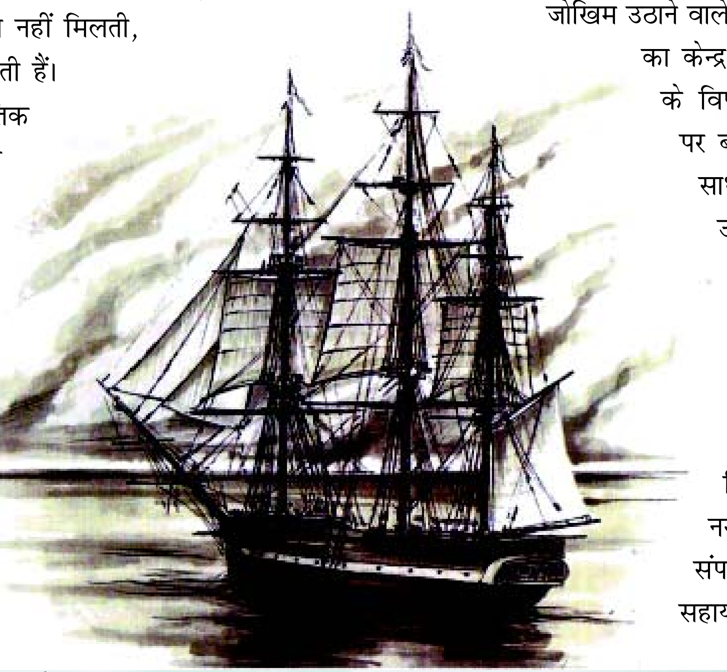

मध्यकाल में समुद्र की यात्रा

समुद्र करोड़ों नर-नारियों के लिए आनंद और आमोद-प्रमोद का भी श्रेष्ठ साधन है। लोग हजारों मील यात्रा करके और कष्ट सहकर समुद्र तट पर पहुंचते हैं जिससे कि वे एक सप्ताह या एक महीना वहां रह कर आराम कर सकें। कलाकार हों या कवि या कि जनसाधारण और पर्यटक, सभी समुद्र तट पर सैर का आनंद उठाने आते हैं। ऊंचे पर्वत शिखरों के समान समुद्र भी साहसी और जोखिम उठाने वाले नर-नारियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। लेकिन पर्वत शिखरों के विपरीत समुद्र में आमोद-प्रमोद पर बहुत कम खर्च आता है और साधारण नर-नारी उसका आनंद उठा सकते हैं। हमें समुद्रों के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए जो सारी पृथ्वी पर फैले हुए हैं। हमें समुद्र की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, जिनसे हमें अपनी प्रिय मातृभूमि के करोड़ों नर-नारियों के कल्याण के कार्य संपन्न करने में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

यह हर्ष की बात है कि अब जनसाधारण के साथ ही भारत सरकार तथा राज्यों ने भी सागर विज्ञान में रुचि ली है। इसके लिए अलग विभाग बनाया गया है तथा अरब सागर, बंगाल की खाड़ी तथा हिन्द महासागर के सुदूर बिंदु दक्षिण-ध्रुव का भी अवगाहन होने लगा है।

आदिकाल का मानव सवारी के लिये तथा माल ढोने के लिए जानवरों का उपयोग करता था। उस जमाने में लोग लकड़ी के लट्ठों पर बैठ कर या जानवरों की खालों में हवा भरकर नदियों और झीलों में यात्रा करते थे। ऐसा लगता है कि आदि मानव संयोगवश समुद्र तक पहुंचा होगा जब लकड़ी के लट्ठे पर बैठा वह समुद्र के मुहाने पर पहुँच गया होगा। इस प्रकार अनचाहे समुद्र तक पहुंच कर आदि मानव को डर भी लगा होगा, क्योंकि वह तो केवल नदियों से परिचित था और समुद्र की अथाह गहराई तथा असीम व्यापकता उसके लिए न

CMYK # 48

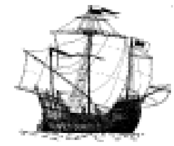

केवल अज्ञात थी, बल्कि डर और शंका का स्रोत भी। लेकिन इसके साथ ही यह अनुभव भी उसके लिए खुलकर हुआ होगा कि इस व्यापक नए संसार में असीम संभावनाएँ थीं। आदिकाल के जो मानव नदी की धाराओं या ज्वार-भाटे के कारण खिंच कर समुद्र में पहुँचे, वे वास्तव में सृष्टि के सबसे पहले समुद्र विज्ञानी थे। समुद्र के बारे में सबसे पहले विवरण उन्हीं लोगों के अनुभवों पर आधारित थे। नदी तट पर बसी बस्तियों के लोग धीरे-धीरे समुद्र तट पर आ गए और विभिन्न समुद्र तटों पर बड़ी-बड़ी बस्तियां बस गईं। आज संसार भर में हम यह देखते हैं कि घनी आबादी वाले इलाके समुद्र तटों के हैं और अधिकतर बड़े नगर या तो समुद्र तट पर हैं या उसके आसपास। अब मानव सभ्यता मूल रूप से तटीय सभ्यता बन गई है। मानव समाज में जो उतार-चढ़ाव हैं, उसके नियामक समुद्र हैं।

प्रारंभिक प्रयत्न

मानव ने समुद्र पर विजय पाने के जो पहले प्रयत्न किए वे केवल नाम मात्र के थे। लेकिन उस समय मानव का ज्ञान सीमित था तथा उसके पास उपकरण भी मामूली किस्म के थे और इसलिए उसे अपनी उपलब्धि बहुत बड़ी लगी होगी। प्रारंभिक युग के मानव के लिए ताजे फलों और कंद-मूल की तलाश में लकड़ी के लट्ठे पर बैठ कर किसी पास के द्वीप तक पहुंचना बहुत बड़ा साहसिक कार्य लगा होगा और जब उनमें से कुछ किसी द्वीप पर जाकर स्थायी रूप से बस जाते थे तो यह और भी बड़ा साहसिक कार्य माना जाता होगा। मछलियों और दूसरे जीवों को पकड़ने के लिए कांटों, रस्सियों और जालों के आविष्कार और उनके प्रयोग को समुद्र पर विजय के अभियान में बहुत बड़ा कदम माना जा सकता है। जंगलों में पशुओं का शिकार करने की तुलना में समुद्र में मछली पकड़ने में बहुत कम खतरा था और लाभ अपेक्षाकृत अधिक। भीतरी प्रदेशों में, जहां जंगलों में हिंसक पशुओं का बाहुल्य था, रहने की बजाय समुद्र तट पर रहना अधिक निरापद और सुखकर था। मानव ने शीघ्र ही नियमित रूप से मछली पकड़ने और समुद्र संबंधी अन्य व्यवसायों को अपनाने की आदत डाल ली। इससे भी अधिक महत्व इस बात का था कि उसने समुद्री यात्रा कर के खाद्य पदार्थों और धन संपत्ति की खोज में दूसरे देशों तक पहुंचना सीख लिया। प्रारंभिक युग में जब समुद्र के रास्ते अज्ञात थे और कोई मानचित्र आदि नहीं होते थे, मानव लकड़ी और बांस का प्रयोग बड़ी मात्रा में करता था। लकड़ी के दो या तीन लट्ठों को रस्सों से बांध दिया जाता था और बांस खड़े करके उन पर कपड़ा या ताड़ के पत्ते लगा दिये जाते थे, जो पालों का काम करते थे। इस प्रकार वायु की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था और इसी प्रकार सबसे पहले मानव ने पाल वाली नावें बनायीं। वे सबसे पहली नावें थीं जिन्हें शक्तिचालित नावों की संज्ञा दी जा सकती है। इन्हीं नावों में बैठ कर आदिकाल का मानव समुद्र तल पर चलने वाली हवाओं का लाभ उठाता था और दूर-दूर के देशों तक पहुंचता था।

पाल वाले जहाजों के अविष्कार के साथ ही मानव का क्षितिज और भी व्यापक हो गया। अब वह अपने देश से ही बंधा हुआ नहीं था। वह नए देशों की खोज कर सकता था और अधिक व्यापक क्षेत्र पर अपना वर्चस्व स्थापित कर सकता था। जब समुद्र के माध्यम से यात्रा करना संभव हो गया तो मानव समूह सोच-समझ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बसने का निर्णय करने लगे। नार्वे के सुप्रसिद्ध खोजी और नाविक थोर हायड्रल ने कहा है कि मानव समूह समुद्र के रास्ते एक स्थान छोड़ कर दूसरे में जाकर बसने लगे और कई बार वे दक्षिणी प्रशांत महासागर के द्वीपों और दक्षिणी अमरीका के बीच यात्राएं करते थे। उन्होंने जो साक्ष्य इकट्ठा किए हैं उनके आधार पर इस प्रमेय का प्रतिपादन किया है कि दक्षिणी प्रशांत महासागर के द्वीपों के निवासी शुरू में दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तटों से देसी नावों में बैठकर इतनी दूर आए थे।

इसी प्रकार प्राचीन काल में भारत से तमिल और उत्कल निवासी हिन्द महासागर में जलयानों द्वारा हिंदेशिया के टापुओं पर पहुँचे थे। बाद में अरबों ने मिस्रियों के समान ही समुद्री यात्राएं कीं। वे लोग व्यापार के लिए समुद्री रास्तों से दूर-दूर तक गए। उन्होंने अरब सागर, हिंद महासागर, दक्षिणी चीन सागर और दक्षिणी-पश्चिमी प्रशांत महासागर में यात्रा करना सीख लिया। इसके अतिरिक्त वे भूमध्य सागर और दक्षिण-पूर्वी अटलांटिक में भी गए। अरब पहले लोग थे, जिन्होंने विश्वभर में व्यापार के लिए समुद्री रास्तों को नियमित रूप से अपनाया। वे लोग भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया से मसाले और इमारती लकड़ी लेकर पहले तो अपने पूर्वी तट पर पहुंचते थे और वहां से भूमि के रास्ते यह सामान यूनान और यूरोप के देशों तक पहुंचाते थे। विभिन्न महाद्वीपों के बीच व्यापार पर अरबों का एकाधिकार सा स्थापित हो गया था। समुद्र और भूमि के रास्ते परिवहन पर भी अरब ही छाए हुए थे।

– राधाकान्त भारती,
56, नगिन लेक अपार्टमैंट,
पीरागढ़ी, दिल्ली-110092

CMYK # 48

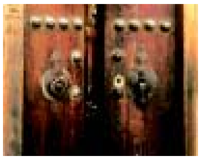

भारत में फारसी संस्कृति के पद्‌चिह्न

डा० शिबानी रॉय

गत चार दशकों से भारतीय मुसलमान समुदायों के मध्य मानव वैज्ञानिक अनुसंधान का सिलसिला लगभग न समाप्त होने वाली वह प्रक्रिया है जिससे प्रत्येक अध्ययन कुछ नए तथ्य सामने लाकर रख देता है। देश के कोने-कोने में रहने वाले यह मुसलमान समुदाय रूप-रंग, वेषभूषा, खान-पान, भाषा एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में अनेक विभिन्नताएँ छुपाए हुए हैं। यदि इन सब में कोई समानता है तो वह है इस्लाम - वह धर्म जिसकी परिभाषा है उस ईश्वर/अल्लाह के समक्ष सम्पूर्ण समर्पण ! किन्तु वास्तविकता यह है कि इस्लाम के अंतर्गत अनेक मतों एवं संप्रदायों समावेश है। इनमें कोई शिया है तो कोई सुन्नी। सुन्नी में भी कोई देवबन्दी है तो कोई बरेलवी, कोई हनफी है तो कोई शाफी, कोई सूफी है तो कोई दाऊदी ! कोई सुलेमानी है तो कोई कायमखानी। इसी प्रकार भाषा, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, वेशभूषा, शारीरिक रचना के आधार पर भारत में लगभग 300 मुसलमान समुदाय हैं। कश्मीर के बकरवाल से लेकर लक्षद्वीप के कोया और कच्छ के मालधारी से लेकर मणिपुर के मितई मुसलमान तक के मध्य सांस्कृतिक विविधता एक समुद्र है। इस सांस्कृतिक विशालता को समझना कोई सरल कार्य नहीं है। अत: इस दिशा में मानव वैज्ञानिक एवं समाज वैज्ञानिक कार्य तथा अध्ययन की आवश्यकता है।

ईरान में एक परिवार के साथ लेखिका

धर्म के विश्वकोष इस्लाम को दो भागों में विभाजित मानते हैं - शिया इस्लाम एवं सुन्नी इस्लाम ! धर्म की ये दो ऐसी धाराएँ हैं जिन्होंने विभिन्न संस्कृतियों को जन्म दिया है। अरब में यदि सुन्नी इस्लाम प्रधान है तो ईरान (फारस) में शिया इस्लाम! जहाँ एक ओर सुन्नी, खलीफा को अपना आध्यात्मिक गुरू एवं मार्गदर्शक मानते हैं वहीं दूसरी ओर शिया, इमामों को। इमाम पैगम्बर मोहम्मद के खानदान के सदस्य थे वहीं खलीफा अबु बकर, मोहम्मद के श्वसुर थे। अली, जो मोहम्मद के चचेरे भाई थे और जिनका विवाह मोहम्मद की एकमात्र जीवित सन्तान से हुआ था, शियाओं के प्रथम इमाम हैं एवं शियाओं का दावा है कि वही मोहम्मद के उचित उत्तराधिकारी हैं। इस प्रकार इमामों का सिलसिला आरम्भ हुआ। जहाँ एक ओर इस्लाम धर्म की दो शाखाओं का विकास हो रहा था वहीं दूसरी ओर समानान्तर दिशा में मुसलमानों में वर्ग, सम्प्रदाय एवं मत स्थापित हो रहे थे। आज भारतीय मुसलमान धर्म के आधार पर भी एक इकाई नहीं बन पाए हैं।

इन्हीं अनेक वर्गों में एक वर्ग है असना अशरिया, जिसे साधारणत: शिया के नाम से जाना जाता है। शाब्दिक अर्थ है 'बारह वाले' क्योंकि यह वर्ग अली के वंश की 12 पीढ़ियों के जन्मदाता इमामों को मानता है एवं प्रत्येक इमाम को एक खानदान का जन्मदाता मानता है तथा अपने खानदान की वंशावली में इमाम को सर्वोपरि रखता है।

ईरान विश्व का एकमात्र देश है जहाँ राजधर्म है शिया इस्लाम ! इस्लाम की इन मुख्य धाराओं (शिया एवं सुन्नी) ने विशिष्ट संस्कृतियों को जन्म दिया है। 1970 के दशक में उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में रहने वाले शियाओं का मानव वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। विस्तृत वंशावली एवं लोक इतिहास के आधार पर उन्नाव जिले का मोहान कस्बा हरदोई जिले का सन्डीला और कानपुर जिले के निल्हौर में रहने वाले रज़ावी (रिजवी) खानदान का चुनाव

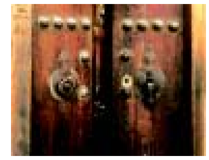

देश का अंदरूनी इलाका

कर एक विस्तीर्ण शोध परियोजना के अंतर्गत सांस्कृतिक एवं शारीरिक मानव वैज्ञानिक आंकड़े एकत्रित किये गए। ये आंकड़े 117 परिवारों वाले इस समाज के थे जिनके आदि पुरुष अवध में नवाबों के शासनकाल में ईरान के नेशाबूर प्रांत से सन् 1273 में आये थे। आने का कारण था, मंगोल सेना का नेशाबूर पर आक्रमण। इनको शरण दी नवाबों ने। यूनानी चिकित्सा प्रणाली इनको विरासत में मिली थी। अवध के शासक ने इनको साई नदी के किनारे बस जाने की अनुमति दी एवं जड़ी-बूटियाँ उगाने के लिए प्रोत्साहित किया। उनका ध्येय था कि इस प्रकार इन जड़ी-बूटियों से निर्मित औषधि उन किसान परिवारों के स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक होगी जो नवाब के राजस्व के मूल स्रोत थे। औषधि ज्ञान के साथ-साथ अपनी परम्पराएँ भी ये लाए जो अनोखी थीं। उदाहरणस्वरूप इनकी स्थापत्य कला विशेषकर कर्बला (शियाओं का ईराक में तीर्थस्थान) की प्रतिकृति अपने घर से लगा कब्रिस्तान, जहाँ परिवार के सदस्यों को दफनाते थे, कब्र को कच्चा रखने की प्रथा, मोहर्रम में चालीस दिन का शोक एवं आशूरा (दस दिन के समारोह) मनाते हुए फारसी भाषा में शोकाकुल मरसिये पढ़ना, सामूहिक रूप से मातम मनाना, प्रत्येक घर में ज़री (कर्बला की प्रतिकृति) रखना, झाँकी निकालना और इमामबाड़ा बनवाना जहाँ प्रतिवर्ष सामूहिक रूप से आशूरा मनाना, शोकसभाएँ आयोजित करना इत्यादि। इनके घर की बनावट, फारसी स्थापत्य कला से प्रेरित होती है। मुख्यद्वार पर लगे लकड़ी के कपाटों पर विशेष सांकल का होना। सांकल दो होती हैं दोनों कपाटों पर। एक विशेषकर महिला आगन्तुक हेतु तथा दूसरी पुरुष हेतु। दोनों की ध्वनि में अन्तर होता है। इनकी ध्वनि से घर के अन्दर के सदस्यों को मालूम हो जाता है कि आगन्तुक पुरुष है या महिला। यदि पुरुष है तो उसका पुरुषों हेतु बने कक्ष में स्वागत होता है, यदि महिला हो तो उसे जनानखाने में ले जाया जाता है। महिलाएं रात के वक्त चादर ओढ़ कर एक दूसरे के घर जाती हैं।

मोहर्रम के महीने में दस दिन का आशूरा मनाते हैं जिसमें इमामों एवं उनके परिवार के सदस्यों पर किये गए अत्याचार एवं हत्याओं पर शोक मनाते हैं। महिलाएँ (विवाहित एवं अविवाहित) 40 दिन के शोक के अंतर्गत न तो चूड़ियाँ पहनती हैं, न ही आभूषण धारण करती हैं और न ही लाल या गुलाबी रंग के कपड़े ही पहनती हैं। परिवार में कोई भी शुभ कार्य या समारोह का आयोजन नहीं किया जाता। इन सांस्कृतिक परम्पराओं के अतिरिक्त नौरोज के त्यौहार मनाने की परम्परा एक ऐसी विशेषता है जो इन्हें अन्य मुसलमान समुदायों से अलग मानती है। ये आज भी इन्हीं परम्पराओं का पालन कर रहे हैं। परिवर्तन हुआ है तो भाषा में। फारसी का स्थान ले लिया है अवधी बोली ने, किंतु आज भी, मोहर्रम में नोहे, मरसिये, मातम, फारसी भाषा में पढ़े जाते हैं। वेशभूषा में परिवर्तन हुआ है। शारीरिक मानव वैज्ञानिक शोध से प्राप्त परिणाम यह सिद्ध करते हैं कि इनकी शारीरिक संरचना ईरान की जातीय संरचना से बहुत मिलती-जुलती है।

मानव वैज्ञानिक होने के कारण सदैव यही इच्छा रही कि यदि अवसर मिले तो ईरान के उन ग्रामीण क्षेत्रों का मानव वैज्ञानिक अध्ययन करूँ जो इनके पैतृक स्थान हैं और जहाँ से इनका देशांतरण हुआ। भारत सरकार ने भारत-ईरान सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के अंतर्गत अवसर दिया कि मैं भारत के इन शियाओं का ईरान में स्थित शियाओं के साथ विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन कर सकूँ। जून-जुलाई 2005 में मुझे इसफाहान, खोरासान, कूम, बार,

CMYK # 51

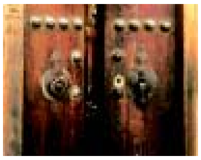

पर्सपोलिस, नेशाबूर, काशान, तेहरान, शीराज क्षेत्रों में मानव वैज्ञानिक अनुसंधान करने की अनुमति मिली। ईरान सांस्कृतिक विरासत संस्था के सहयोग से मैंने कुछ सांस्कृतिक आंकड़े एकत्रित किये जिनका प्रारम्भिक विश्लेषण इस लेख द्वारा मैं आपके समक्ष रख रही हूँ।

भारत की तरह ईरान के इतिहास ने अनेक साम्राज्यों को बनते और नष्ट होते देखा है। यहाँ अरब, सेल्जुक, तुर्की और मंगोल सेनाओं ने अपने साम्राज्यों की स्थापना की। राजनीतिक उथल-पुथल भी ईरान की सांस्कृतिक उन्नति में बाधक नहीं बनी। प्राचीनतम विकसित सभ्यताओं में ईरान सभ्यता अग्रणी है। चौदह से अठारह हजार वर्ष पुरानी यह सभ्यता मुख्यत: अनुभवी एवं परिष्कृत कृषि पर आधारित थी। स्थापत्य कला में यह अतुलनीय थी। ईरान घटनाचक्र में कुछ काल अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इनमें मुख्य थे अखमीनिन (559-330 वर्ष ई.पू.), हेलेन्सिटिक (300-250 वर्ष ई.पू.), पार्थियन (250-226 वर्ष ई.पू.), ससानिद् (226-651 वर्ष ई.पू.), अरब सातवीं शताब्दी (637 सन्), सेलजुक तेरहवीं शताब्दी (1219-1316), तीमूरिद (1400-1447), सफाविद (1500-1736), आफशार (1736-1750), जान्द (1750-1794), काजार (1787-1921) एवं पहलवी (1921-1979) शासन ने ईरान की संस्कृति संरचना में विशेष योगदान दिया। इसके पश्चात् हुआ शासकों के विरुद्ध आंदोलन। इमाम (आध्यात्मिक एवं धार्मिक गुरू) की भूमिका का जीर्णोद्धार हुआ और लोकतंत्र की स्थापना हुई।

मूल धार्मिक ग्रंथों, अवेस्ता, शाहनामा, वेद एवं महाभारत में ईरान के प्राचीनतम शासनकाल का उल्लेख मिलता है। प्रेस्पोलिस के अवशेष ईरान की वह धरोहर है जो द्योतक है इस तथ्य का कि ईरानी सभ्यता का विकास जाति विस्तार, संस्कृति संरचना एवं प्रसार का वह मानवी पड़ाव है जिस पर आज की सभ्यताओं को गर्व है।

नेशाबूर पहुँचने में मेरा पहला पड़ाव था खोरासान, जिसे खोरासान राजावी के नाम से भी पुकारते हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से एक बड़ा क्षेत्र है जहाँ उद्योग और व्यापार का संगम था क्योंकि चारों दिशाओं में स्थित व्यापारिक केन्द्रों तक पहुँचने में राजमार्गों का संधिस्थल यहीं है। जब यातायात का एकमात्र साधन कारवाँ था तब अपनी लम्बी थकान भरी यात्राओं में कारवाँ यहीं पड़ाव डालते थे। यही क्षेत्र ईरान के उत्तरी भाग को दक्षिण से तुर्कमेनिस्तान और ओमान के समुद्र के रास्ते भारत को जोड़ता है। मशहद् यहाँ का केन्द्रीय शहर है जिसे मशहद्-ए-मुकद्दस भी कहते हैं। मुकद्दस, अर्थात् पवित्रतम्। यहाँ शियाओं के इमाम रज़ा का समाधिस्थल है जिसे रौजा कहते हैं। इसका महत्व तब और भी बढ़ गया जब शियाओं के अन्य तीर्थस्थान जैसे कर्बला, पड़ौसी देश इराक की सीमा के अन्दर चले गये। रौजा, आज भी लाखों श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। शियाओं के अन्य तीर्थस्थलों की तुलना में यह अधिक वैभवशाली है। मशहद् में एक और धार्मिक स्थल है कदमगाह, जहाँ मीठे पानी का झरना है। स्थानीय निवासियों का विश्वास है कि इमाम रज़ा के

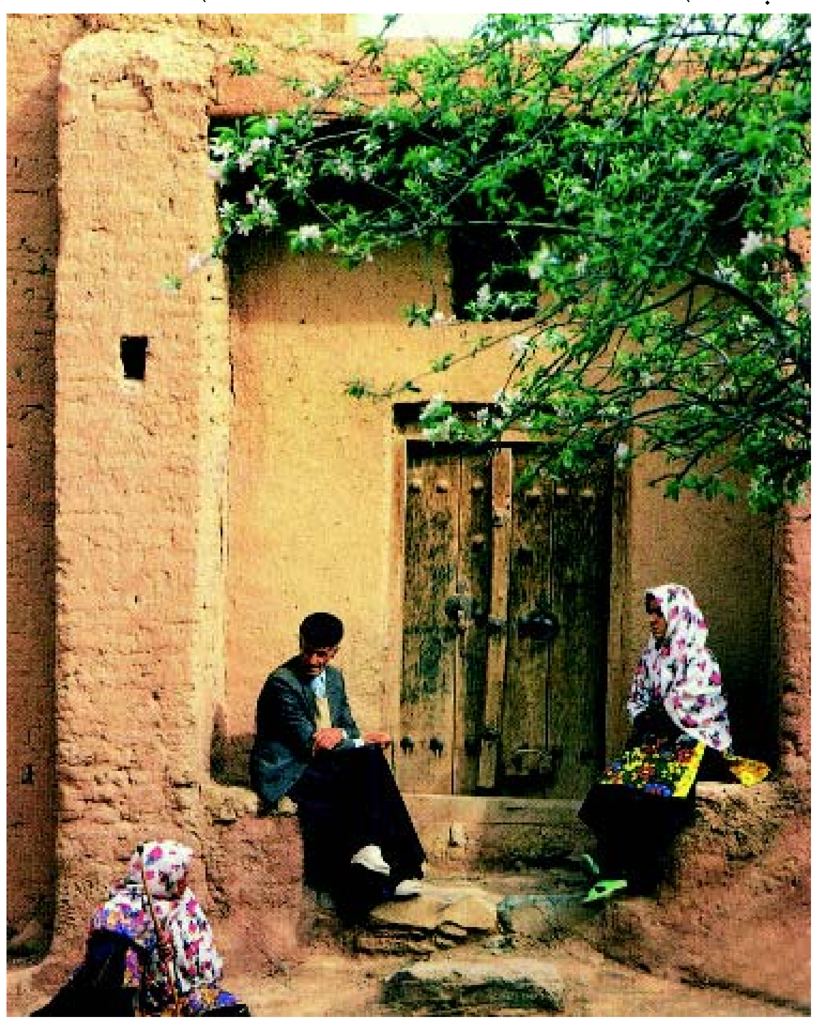

घर के बाहर बातचीत करते निवासी

> “भारत एवं ईरान में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान सदियों से होता आया है। मुगल काल के अनेक सम्राटों ने ईरानी राजकुमारियों से विवाह संबंध स्थापित किये। सामरिक महत्व की अनेक संधियाँ कीं। अस्त्र-शस्त्र की खरीदारी की। युद्ध कला के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में गज़ल, खोरासान की देन है फारसी के शायर हकीम उमर खय्याम ने भारत में बोली जाने वाली उर्दू भाषा के विकास में विशेष योगदान दिया। भारतीय न्यायपालिका में फारसी भाषा ही प्रचलित थी जिसका स्थान बाद में अंग्रेजी ने लिया। ”

पैर की ठोकर से यह झरना फूट पड़ा और इसके पानी में अनेक गुण हैं जिनसे अनेक रोगों के उपचार में सहायता मिलती है। यहीं वे पदचिह्न हैं जो इमाम के ही हैं यह मान्यता है।

यही वह इमाम हैं जिनकी संतान ने भारत के अवध क्षेत्र में लखनऊ से 30 किलोमीटर की दूरी पर बहती साई नदी के किनारे मोहान नामक कस्बा बसाया।

मशहद् से लगभग 112 किलोमीटर की दूरी पर है नेशाबूर। यह खोरासान राजावी क्षेत्र की राजधानी भी रही है। ससानिद् शासन काल में यह शहर बसा था। इसे शाहपुर कहते थे। पश्चिम मशहद् कला, साहित्य एवं शिक्षा का केन्द्र था। नेशाबूर कवि, हकीम उमरखय्याम की जन्मभूमि है और यहीं उनका मकबरा भी है। उमर खय्याम मात्र प्रसिद्ध शायर ही नहीं अपितु प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं ज्योतिर्विद् भी थे। इनके पश्चात् यहाँ प्रसिद्ध हुए साहित्यविद् फरीदुद्दीन अत्तार और ईरान के लोकप्रिय कलाकार चित्रशिल्पी कमलीमुल्क गफ्फारी का भी निवास स्थान है।

दसवीं शताब्दी तक नेशाबूर मृदभाण्ड के निर्माण कला में प्रसिद्ध हो चुका था। सन् 1145 में आए भूकम्प ने इस शहर को क्षति पहुँचाई और 1153 में गुज तुर्कमान ने इस पर आक्रमण किया। 1216 तक शहर का नव निर्माण हुआ किन्तु 1121 में और फिर 1269 में मंगोलों ने इसे लूटा। 1281 के भूकम्प में यह शहर लगभग ध्वस्त हो गया था। जितनी बार विध्वंस हुआ, यह फिर बसा। यदि भूकम्प से बच भी गया तो आक्रमण ने इसे बर्बाद कर दिया। यहाँ उत्तम श्रेणी के फीरोज (मूल्यवान पत्थर) रत्नों की खान है। इसके अतिरिक्त केसर, गुलाब, पोदीना, जैतून, बेर आदि से निर्मित तेल निर्यात होता है। यहाँ से एकत्रित सूचना के आधार पर मैं वहाँ से निकट गाँव ‘बार’ पहुँची, जहाँ सैयदों (सादातों)

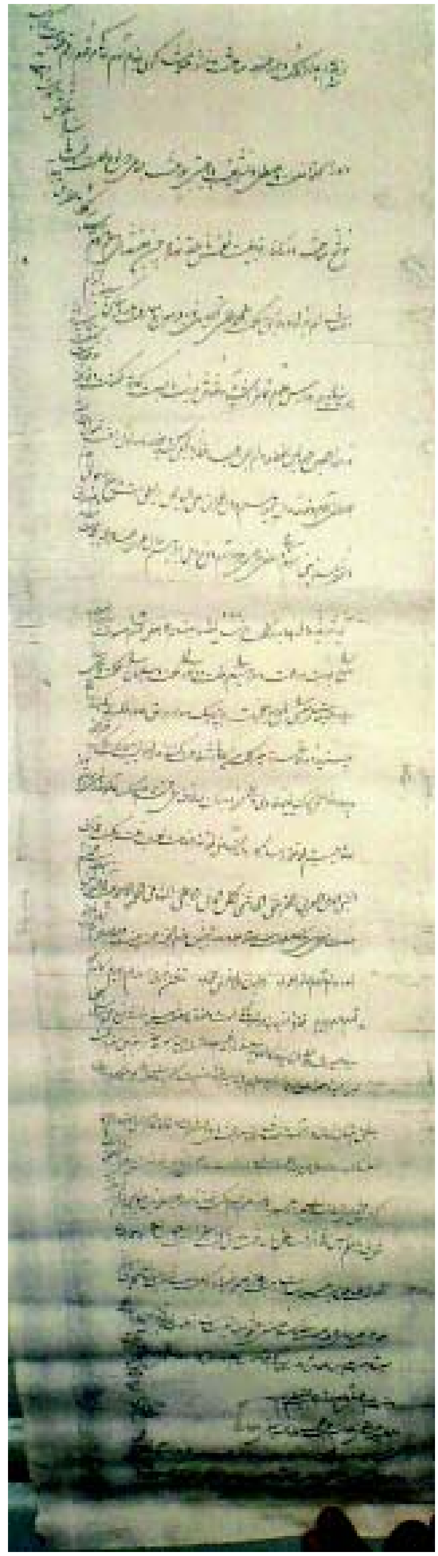

एक फारसी स्क्रॉल

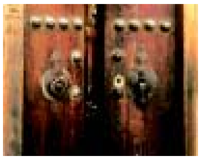

की बस्ती है। यह गाँव सघन पहाड़ियों के बीच स्थित है। लगभग 1008 परिवार यहाँ रहते हैं जिनमें 968 परिवार सादात हैं। इन 968 परिवारों में 407 परिवार राजावी के हैं और 561 परिवार हुसैनी खानदान के हैं। सादात पुरुष अधिकतर काली या हरे रंग की टोपी पहनते हैं। काला और हरा रंग रजावियों के हृदय में विशेष स्थान रखता है। ऐसा मानना है कि अली के पुत्र हसन और हुसैन को यही रंग प्रिय था। अत: इसी रंग की टोपी पहनने का चलन है। भारत के उत्तर प्रदेश राज्य की राजधानी लखनऊ से लगभग 30 किलोमीटर दूर मोहान कस्बे में रहने वाले राजावी (जो अपने नाम के साथ रिजवी लिखते हैं) भी इन्हीं दो रंग की टोपी का प्रयोग करते हैं एवं मोहर्रम में काली या हरी कमीज या कुर्त्ता अवश्य पहनते हैं। बार गाँव में अधिकांशत: मकान मिट्टी के बने हैं। प्रत्येक परिवार में शिजरा होता है। शिजरा अर्थात् वंशावली जिसमें प्रत्येक पीढ़ी में पुत्र एवं पुत्रियों के जन्म एवं मृत्यु तथा विवाह संबंधी सूचनाएँ क्रमानुसार लिखी रहती हैं। मकान के मुख्य द्वार पर की गई नक्काशी देखने में उतनी ही चिरपरिचित लगी, जैसा कि मेरा अनुभव मोहान के मकानों को देखकर हुआ था।

भारत एवं ईरान में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान सदियों से होता आया है। मुगल काल के अनेक सम्राटों ने ईरानी राजकुमारियों से विवाह संबंध स्थापित किये। सामरिक महत्व की अनेक संधियाँ कीं। अस्त्र-शस्त्र की खरीदारी की। युद्ध कला के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में गज़ल, खोरासान की देन है। फारसी के शायर हकीम उमर खय्याम ने भारत में बोली जाने वाली उर्दू भाषा के विकास में विशेष योगदान दिया। भारतीय न्यायपालिका में फारसी भाषा ही प्रचलित थी जिसका स्थान बाद में अंग्रेजी ने लिया।

सम्राट अकबर द्वारा प्रतिपादित दीने इलाही धर्म ईरान के आदि धर्म से प्रेरित था जिसमें सूर्य एवं अग्नि की प्रधानता थी, जिनका भारत के मौलिक धर्म में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार नौरोज (नूतन वर्ष) जो ईरान का राष्ट्रीय त्यौहार है, भारत में भी उन समुदायों में मनाया जाने लगा जिनकी जातीय जड़ें ईरान तक फैली थीं। सम्राट अकबर ने इसे अपनाया। अबुल फज़्ल ने अपनी रचना 'अकबरनामा' में दीने इलाही पर विशेष टिप्पणी करते हुए लिखा है कि अकबर के महल में अग्नि एवं सूर्य से संबंधित कर्मकाण्ड होते थे। राखी, दीपावली भी उसी उत्साह एवं उल्लास से मनाई जाती थी जिस उल्लास से नौरोज मनाया जाता था। शबे बरात और दीपावली में जिस तरह समानताएँ थीं, उसी प्रकार नौरोज और होली में भी समानताएँ थीं। जुन्नार (जनेऊ) का धारण करना अथवा अकबर के ललाट पर लगा हुआ केसर का कशका (तिलक), कोई आश्चर्य नहीं था। महल में गंगाजल का प्रयोग होता था। अकबर अधिकतर गंगाजल ही पीते थे। यदि यात्रा में होते तो अपने साथ गंगाजल अवश्य रखते थे। उनका खाना पकाने में प्रयोग किये जाने वाले यमुना अथवा सतलुज के जल में भी गंगाजल मिलाया जाता था। महल में होम की अग्नि सदैव प्रज्ज्वलित रहती थी। मैंने ईरान के गाँवों में आतिश (आग) गाह देखी है जो सदैव जलती रहती है। आतिश को पवित्र मानते हैं। मोहान कस्बे में मोहर्रम में आशूरा के कार्यक्रमों में एक कार्यक्रम होता है ''आग का मातम'' जिसमें अनेक श्रद्धालु हाथ में अलम लिये जलते और धधकते लाल-लाल कोयलों पर नंगे पैर चलते हैं। ऐसी धारणा है कि इससे श्रद्धालु का तन और मन दोनों पवित्र हो जाते हैं।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान का ज्वलंत उदाहरण है नौरोज का त्यौहार जो आज भी मोहान के सादात उसी उल्लास और उत्साह से मनाते हैं जैसा उल्लास हमें होली के अवसर पर देखने को मिलता है। इस त्यौहार में रंगों से अभिनन्दन किया जाता है एवं नए वर्ष का स्वागत होता है। यह त्यौहार मीसोपोटेमिया और पश्चिम एशियाई देशों में किसी न किसी रूप में मनाया जाता है। प्राचीन काल में सूर्य के उपासक ईरानी नौरोज के दिन मेगस की अर्चना करते थे। जुरस्तु सम्प्रदाय के आतिश कदे (अग्नि मंदिर) में आहूरा माजदा (ईश्वर) से प्रार्थना की जाती थी। अखमीनियन साम्राज्य में भी इस त्यौहार को उल्लास से मनाते थे और इसका प्रमाण मिलता है पर्सपोलिस के अवशेषों में पत्थर पर खुदे चित्रों से।

नौरोज के साथ आशूरा मनाने की प्रथा, सादातों में आज भी जीवित है। यह वो सांस्कृतिक पदचिह्न हैं जो इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि भारतीय संस्कृति इतनी विशाल और उदार है कि अनेक संस्कृतियों ने इसका अंगीकार कर स्वयं को मुख्यधारा का अंग बना दिया तथा भारतीय दर्शन का मंत्र ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' केवल कल्पना तक सीमित न हो, एक शाश्वत सत्य बन गया।

- डा० शिबानी राय
भूतपूर्व अधीक्षण मानव वैज्ञानिक एवं कार्यालय प्रधान,
भारतीय मानवविज्ञान सर्वेक्षण, भारत सरकार
121-सी, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली-110085

जापान में नागरी लिपि

डॉ० लोकेशचन्द्र

आधुनिक जापान का हृदय अपनी संस्कृति से भरपूर है। जापानी भाषा उसकी अस्मिता है, उसको परिश्रम सिखाती है, उसे अपनी ऐतिहासिक उपलब्धियों से जोड़ती है। यद्यपि जापान में औद्योगीकरण की चरम सीमा है, तथापि उसकी ऐतिहासिक परंपराएं, उसकी शतियों की प्रतिध्वनि वहाँ के जन-मानस में एक अलौकिक प्रतिभा और शाश्वत प्राणसंचार करती है। यह कल और आज की सृजनशील संगमस्थली एशियाई मानव को चुनौती देती है। उसे देखने-समझने के लिए सितंबर 1970 में जापान की यात्रा की – वहाँ के विश्वविद्यालयों, संग्रहालयों और विहारों के अनखुले भंडारों में खोज करने के लिए। जाते ही तोक्यो के एक छोटे से मंदिर में ठहरे। यह पिताजी (आचार्य रघुवीर जी) के शिष्य डॉ0 यामामोतो की पत्नी के भाई का मंदिर है। इनका शुभनाम भिक्षु शुकोसाएकी है। यह कोम्योइन् नामक मंदिर मंत्रयान संप्रदाय का है, जिस संप्रदाय में मंत्रों के गंभीर अध्ययन की परंपरा रही है। इस मंदिर की मुद्रा भी संस्कृत में है। इसकी लिपि नागरी का पूर्व रूप सिद्धम् है जिसका जापानी ''शित्तान्'' उच्चारण करते हैं। यह सिद्धनागरी जापान की पुण्य मंत्रलिपि है। आर्य शुकोसाएकी का मंदिर में ही घर था और निर्वाह के लिए उन्होंने बच्चों की पाठशाला खोली हुई थी। प्रति प्रातःकाल बच्चे अवलोकितेश्वरी देवी को धूप, नैवेद्य आदि समर्पित करके पढ़ाई आरंभ करते थे। पाठशाला की बस पर चारों ओर किरणों का आलोक बिखेरते हुए वज्र अंकित थे। सायं आर्य शुकोसाएकी से मंदिर की आर्थिक व्यवस्था पर चर्चा हुई। उन्होंने अनेक प्रकार की सूचना दी। पर सबसे रोचक थी कि वे समय-समय पर अपने भक्तजनों के लिए संस्कृत के मंत्र लिखकर देते हैं जिनके लिए अच्छा शुल्क मिल जाता है। जापान में मंत्र सिद्ध पुरुष ही लिखते हैं जो इसके लिए साधना करते हैं और तूलिका से विशिष्ट सौन्दर्य का अभ्यास करते हैं। आर्य शुकोसाएकी ने हमारे लिए भी एक मंत्र लिखकर देना स्वीकार कर लिया। अंदर से हाथ का बना कागज और मसि (स्याही) लाए। दो बार तूलिका से अभ्यास किया। आप जानना चाहेंगे कि क्यों? मंत्र के एक बड़े अक्षर को रूखे पत्र पर लिखने के लिए एक ही बार मसि लेनी चाहिए और उतनी मसि से ही संपूर्ण अक्षर लिखा जाना चाहिए। यदि बीच में मसि लेनी पड़ जाए तो अक्षर खंडित हो जाएगा। खंडित मूर्ति की भांति वह पूजा के अयोग्य हो जाएगा। अक्षरों का सुसम्मत आकार और अखंडित मसि का समन्वय अभ्यासगम्य है। अब आप कल्पना कीजिए कि आर्य शुकोसाएकी ने हमारे लिए क्या लिखा। आश्चर्य करेंगे--'ओं स्वाहा'। इसका परिमाण तीन फुट लंबा है। भव्य है, पावन है। पार्श्व में इसका एक छोटा सा चित्र है। चित्र से मूल की गरिमा और साधना की अमित ज्योति का अनुमान करना कठिन है। आर्य शुकोसाएकी हमारे लिए मंत्र लिखकर हर्षमग्न हो गए और ऊँचे से हँसने लगे ''जापान से भारत मंत्र जाएगा।'' कुछ क्षणों में गंभीर होकर बोले – ''यह आपके पुण्यश्लोक पिताजी (आचार्य रघुवीर जी) के लिए है। जब आप फिर जापान आएंगे तो दूसरा मंत्र दूंगा जोकि हाथ-करघे के कौशेय से मंडित होगा और यह प्रभापट वस्तुतः कलाकृति होगा।''

जापान में एक प्रसिद्ध मंदिर है जिसका नाम मुरोजी है। इसका निर्माण आठवीं शती में हुआ था। पर्वतों के निर्जन वातावरण में साधना का केंद्र रहा है। इसके उपवन की शोभा तडाग है जिसका आकार नागरी के 'वं' के समान है। मंत्रयानी साधना में 'वं' वैरोचन देवता का बीजाक्षर है।

नगरों से दूर, इतिहास के गह्वर में परिवर्तनशील राजधानियों से परे, कोयासान मंत्रयान का महापीठ है। यहाँ किसी युग में 500 मंदिर और विहार थे। आज भी 100 से अधिक हैं और भक्तों के लिए तीर्थराज हैं जहाँ सितंबर में श्राद्ध-तर्पण के लिए भीड़ रहती है। इस अवसर पर बंधुजन दिवंगत पितरों के नाम लकड़ी की पट्टिकाओं पर लिखकर मंदिर के विशिष्ट जलप्रपात में तर्पण करते हैं। ये नाम भिक्षु सिद्धंनागरी में तूलिका से लिखते हैं। मैंने भी सितंबर 1970 में पिताजी का श्राद्ध तर्पण इसी प्रकार किया और दो काष्ठपट्टिकाएँ लिखवाईं जिनमें से एक तर्पण के लिए प्रयोग की गई और दूसरी साथ ले आया। पट्टिका के एक ओर नाम है और दूसरी ओर 'आ वि र हूं खं' लिखा है। कोयासन के कोम्योइन् मंदिर प्रांगण से नदी बहती निकलती है। इस पर तर्पण-पट्टिकाएँ लटकाने का विशेष प्रबंध है जिससे जल-सिंचन सतत हो सके। इसका चित्र अगले पृष्ठ पर है।

> “ जापान में मंत्रयान के बारह हजार (12,000) मंदिर हैं। कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ निष्क्रिय हैं और कुछ सक्रिय हैं। ग्रामों और नगरों में बिखरे हैं। सूर्योदय से पहले कुछ मंदिरों में घी से होम होता है जो संस्कृत मंत्रों के उच्चारण से संपन्न किया जाता है। ”

कोयासन में विश्वविख्यात आचार्य कोबोदाइशि की समाधि है जहाँ दस हजार दीपकों की अखंड ज्योति 1200 वर्षों से प्रदीप्त है। यहाँ जापान के अनेक सम्राट, कवि, मनीषी, आचार्य, भिक्षु और रंकों की समाधियाँ हैं जिनका काल-विस्तार 1200 वर्ष है। ये समाधियाँ चैत्य के आकार की हैं जिसके चौकोर, गोल, अर्धचन्द्र आदि विभिन्न आकारों के पाँच खंड हैं जो पंचतत्वों के प्रतीक हैं। नीचे से ऊपर 'अ व र ह खं' अलग-अलग खंडों पर सिद्धंनागरी में लिखे रहते हैं। ये पाँच अक्षर पाँच तत्वों के प्रतीक हैं और ख आकाश है। इन पांच अक्षरों का पूर्ण मंत्र है 'आविर हूं खं' जो इस ध रा पर मानव के हृदय में देवत्व के अवतरण और आविष्करण (आविर) के लिए महामंत्र है। इन चैत्य समाधियों को गौरिन्तो कहते हैं। नीचे से ऊपर की ओर ये क्रमशः पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश का प्रतिनिधान करती हैं। अंत होने पर शरीर पंचतत्वों में विलीन हो जाता है। उसी का यह मूर्तरूप है। आज तक गोरिन्तो समाधियाँ बनती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शैशव में जापानी बालक आ ई ऊ ए ओ -- वर्णमाला का पाठ करता है और अंत में गोरिन्तो में उसके पार्थिव अवशेष सिद्धंनागरी से पुनीत होते हैं।

कोयासन नगरी की दुकानों में घूमा और चकित रह गया। अंदर जा कर देखा कि सिद्धंनागरी में पूजा-पुस्तकें मिल रही हैं। मंदिरों में पूजा सुनी थी, यह भी जाना था कि यह संस्कृत में हो रही है। आप भी सुन लीजिए। उसके अंतिम बोल थे "आमिरिता ग्याग्यानाइ कीचिक्यारेइ आमिरिता दोन्दोबिसोबारेई सारावाऽराता सादानेह साराबाक्यारामा किरेइशा कियायान कियारेइ सोबाऽकाऽ।।" कल्पना कीजिए कि संस्कृत है। पर कैसी संस्कृत? अंतिम प्लुत 'सोबा का' स्वाहा का जापानी उच्चारण है। कोयासन की सिद्ध नागरी में लिखी पुस्तक देखते ही ऊपर के बोल जापानी स्वर लहरी से संस्कृत बन गए--"अमृत-गगन-कीर्त्तिकरे अमृत-दुंदुभि-स्वरे सर्वार्थ-साधने सर्व-कर्म-क्लेश-क्षयंकरे स्वाहा।" यह जान हर्षाभिभूत मैंने यह लंबी पुस्तिका ले ली। इसके अंतिम पृष्ठ का चित्र अगले पृष्ठ पर है। आप पढ़ने का प्रयत्न कीजिएगा तो सिद्धंनागरी दूरपरिचिता प्रतीत होने लगेगी।

जापान में मंत्रयान के बारह हजार (12,000) मंदिर हैं। कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ निष्क्रिय हैं और कुछ सक्रिय हैं। ग्रामों और नगरों में बिखरे हैं। सूर्योदय से पहले कुछ

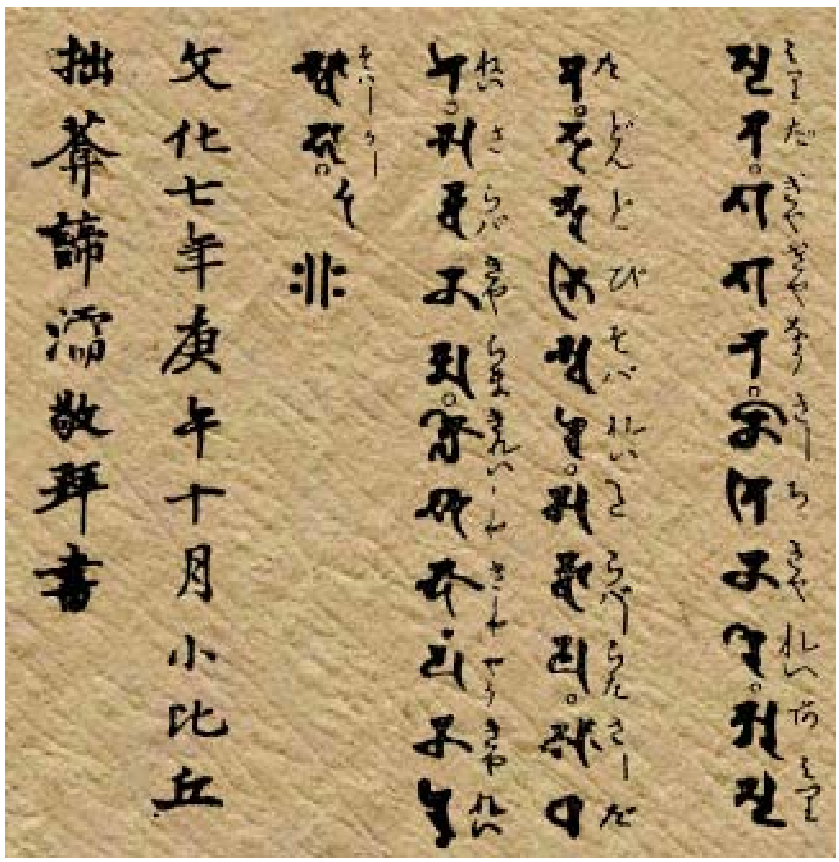

मंदिरों में घी से होम होता है जो संस्कृत मंत्रों के उच्चारण से संपन्न किया जाता है। इनमें कुछ मंत्रों का चित्र नीचे दिया गया है। यत्न कीजिए और आप पढ़ पाएंगे कि

'ओं बज्रोद्भवाय स्वाहा। ओं वज्राग्निप्रदीप्ताय स्वाहा' लिखा है। यह पुस्तक लंबी ही लंबी चलती जाती है। यह है वर्तमान जापान में नागरी की एक झलक।

आपको जानकार विस्मय होगा कि संस्कृत की सबसे पहली गुप्तकालीन हस्तलिपि जापान के होर्यूजी मंदिर से मिली थी। यह उष्णीषविजयाधारणी है। यह उस युग की है जब जापान के अशोक, शोतोकु (सन् 574-621) ने सर्वप्रथम संविधान की रचना की और बहुजनहिताय बहुजनसुखाय के सिद्धांत की विजय इस धारणी से सुस्थिर की। यह पोथी संस्कृत में सुललित लेख में है और जापानी शासन द्वारा सुरक्षित राष्ट्रीय निधि है।

जापान की वर्णमाला काताकाना और उसका प्रवाही रूप हीरागाना कहलाता है। इसके आविष्कारक आचार्य कोबो दाइशी थे जिनका काल सन् 774-835 है। कश्मीरवासी आचार्य प्रज्ञ से इन्होंने सिद्धंनागरी सीखी। आचार्य कोबोदाइशी ने कोयासन के शांत पर्वतांचल में अपना आश्रम बनाया और जनता के हित अनेक कार्य किए। नागरी वर्णक्रम के आधार पर जापानी वर्णमाला की रचना की। इसको 'गोजेओन्' अर्थात् '50 ध्वनियाँ' कहा। इसका आरंभ है आ ई ऊ ए ओ। का की कू के को, आदि। कोबो दाइशी के समय तक केवल सामंत परिवार ही शिक्षा पाते थे और दुरूह चीनी लिपि में लिखते थे। कोबो दाइशी ने सामान्यतम जनता के बच्चों को पढ़ाना-लिखाना आरंभ किया और इसके हेतु हीरागाना वर्णमाला की रचना की। जापानी शिक्षापद्धति में यह क्रांतिकारी पग था। आज तक प्रत्येक जापानी कोबो दाइशी की इस अनुपम देन से अपनी शिक्षा प्रारंभ करता है जिसका आधार कोबो दाइशी की संस्कृत के प्रति अगाध श्रद्धा था।

कोबो दाइशी ने जापान में संस्कृत मंत्रयान का प्रवर्तन किया, अनेक संस्कृत हस्तलिपियाँ संग्रह कीं, और संस्कृत मंत्रों एवं बीजाक्षरों द्वारा जापान के मानव की श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। आज भी जापान में देवताओं की प्रतिमा अथवा पट के अभाव में उनका बीजाक्षर लिखते हैं। बीजाक्षर साधना के प्रतीक हैं। बीजाक्षर लिखना सिखाने के लिए आज तक पुस्तकें छपती रहती हैं। तीन वर्ष पहले ही 'बोन्शु शित्तान् शुजीरुइशू' नामक पुस्तक छपी है। इसमें लक्ष्मी का बीजाक्षर 'श्री' लिखा है।

बीजाक्षर बड़े आकार में और लकड़ी से बनी लेखनी से अभिव्यंजक वक्रिमाओं और ओजपूर्ण खिचानों में सुदृढ़ हाथ से लिखे जाते हैं। इनके लेखन-सौष्ठव की पहचान भी कुछ वर्षों के निजी अनुभव से ही की जा सकती है। बीजाक्षरों का सुलेखन अभिव्यक्ति है, कला है, संस्कार है, साधना है।

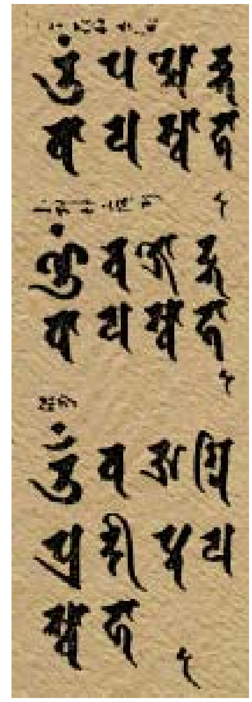

जापानी घरों के बाह्य द्वार पर भी सिद्धंनागरी के कवचमंत्र दिखाई देते हैं।

आठवीं शती में नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य शुमाकरसिंह ने बीजाक्षर 'अ' पर ध्यानयोग की परंपरा चलाई। आज के जापान में यह 'आजिकान' के नाम से प्रचलित है। आजिकान का अर्थ 'अकार-ध्यान' है। अकार अनादि, अज, अनुत्पाद का प्रतीक है। इसके रंगीन छपे हुए ध्यान-पट जापानी घरों को पवित्र करते हैं। शुक्लवर्ण अष्टदल कमल के ऊपर विराजमान सुनहरी रंग के 'अ' का लेखन किया जाता है। प्रत्येक पूरक और रेचक में 'अ' के मौन जप से तन और मन को पवित्र कर, साधक सूक्ष्म 'अ' को विश्व में व्याप्त और वैरोचन में विलीन पाता है।

नागरी जापान के शैक्षणिक विकास में ऐतिहासिक क्रांति की नींव बनी, जापान के प्रथम संविधान को इसने अभिमंत्रित किया, पालने से जीवन के अंतिम चरण तक संस्कारों को मंत्रपूत करती आई है, और जापानी जन के लिए लीलामय जगत् को बोधि के कैवल्य में आलोकित करती है। सिद्धंनागरी साधना की सिद्धि और मानस की पारमिता प्रज्ञा है जिसका बीजाक्षर है 'ज्ञा' --

'शुजी रुइशू' नामक ग्रंथ से प्रज्ञा का बीजाक्षर 'ज्ञा'

- डा० लोकेशचन्द्र,
पूर्व सांसद (राज्य सभा),
जे 22, हौज़खास एन्क्लेव, नई दिल्ली-110016

CMYK # 57

सोफ़िया : प्राच्य की ओर खुले गवाक्ष

डॉ० रणजीत साहा

नेशनल थियेटर इवान वाजोव की स्मृति को अर्पित बुल्गारिया का सुप्रसिद्ध रंग-केंद्र

'ईस्ट वेस्ट इंडोलॉजिकल फ़ाउंडेशन', सोफ़िया द्वारा मुझे अचानक बुल्गारिया में भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के साथ समकालीन सामाजिक प्रश्नों पर व्याख्यान देने और संबंधित विमर्श में भाग लेने का आमंत्रण मिल जाएगा, मैं ऐसा सोच नहीं सकता था। उस खूबसूरत और रमणीय देश के बारे में यही सुना था कि जब विश्व की सभी जातियों ने अपने-अपने लिए भूखंड प्राप्त कर लिये तो बुल्गारियाई भी ईश्वर के दरबार में, अंत में और देर से ही सही, पहुँचे और अपने लिए ज़मीन की माँग की। चूँकि सारी पृथ्वी बँट चुकी थी-इसलिए ईश्वर ने इन 'देर आयद दुरुस्त आयद' के लिए स्वर्ग का एक टुकड़ा काटकर उपहार में उनके साथ चिपका दिया। बुल्गारिया उस किंवदंती को सच्चाई में बदलने वाला ऐसा ही नयनाभिराम और अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण देश है-यहाँ से वहाँ तक--आदिगंत हरे-भरे ऊँचे पर्वतों, जंगलों, झीलों, नदियों, गुलाब की क्यारियों से मीलों तक पटा हुआ, अपने में कई ऐतिहासिक स्मृतियों और धरोहरों को संजोए। इन सबसे परिचित और आनन्दित करने का श्रेय अगर किसी को जाता है तो वह हैं, श्रीमती योर्दान्का बोयानोवा, उक्त फ़ाउंडेशन की संस्थापक अध्यक्ष और भारतभक्त भारत विद्याविद्। भारतीय धर्मदर्शन एवं चिंतन के प्रति निष्ठा और इनमें दूसरों की भी रुचि जगाने वाली श्रीमती बोयानोवा भारतीय धर्मदर्शन के साथ इसकी आध्यात्मिक परंपरा में

"

उस खूबसूरत और रमणीय देश के बारे में यही सुना था कि जब विश्व की सभी जातियों ने अपने-अपने लिए भूखंड प्राप्त कर लिये तो बुल्गारियाई भी ईश्वर के दरबार में, अंत में और देर से ही सही, पहुँचे और अपने लिए ज़मीन की माँग की। चूँकि सारी पृथ्वी बँट चुकी थी- इसलिए ईश्वर ने इन 'देर आयद दुरुस्त आयद' के लिए स्वर्ग का एक टुकड़ा काटकर उपहार में उनके साथ चिपका दिया। बुल्गारिया उस किंवदंती को सच्चाई में बदलने वाला ऐसा ही नयनाभिराम और अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण देश है-यहाँ से वहाँ तक--आदिगंत हरे-भरे ऊँचे पर्वतों, जंगलों, झीलों, नदियों, गुलाब की क्यारियों से मीलों तक पटा हुआ, अपने में कई ऐतिहासिक स्मृतियों और धरोहरों को संजोए।

"

गहरा विश्वास रखती हैं तथा पूज्य एवं मान्य ग्रंथों के स्वाध्याय और भक्तिविषयक तत्त्वों के अध्ययन एवं अनुसंधान में लगी रहती हैं। सम्प्रति वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से 'गीता के अनुवादों (संप्रेषणों) के तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर पीएच.डी. के लिए कार्यरत हैं। इस शोध परियोजना के साथ वे भारतीय विद्या और इसकी उत्कृष्ट मनीषा की निरंतरता को भी शैक्षिक पद्धतियों, लौकिक परंपराओं और जीवनशैलियों के माध्यम से गहराई से समझाना चाहती हैं। इसके लिए विभिन्न शिक्षा संस्थानों, आश्रमों, आध्यात्मिक पीठों से भी उनका संपर्क बना हुआ है। कमज़ोर स्वास्थ्य और अपने पति एवं परिवार के साथ फ़ाउंडेशन के लिए हमेशा चिंतित रहने के बावजूद उनके उत्साह में कोई कमी नहीं आई है।

ग्रीष्मावकाश के दौरान-25 मई से 11 जून 2006 तक-दो सप्ताहव्यापी मेरी बुल्गारिया यात्रा इतनी रोचक और आनंददायक होगी-इसका अनुमान लगा पाना भी कठिन था। 25 मई की रात 1 बजे दिल्ली से मॉस्को होते हुए मुझे अगली सुबह 10 बजे सोफ़िया के लिए दूसरी उड़ान लेनी थी। लेकिन प्लेन में आई ख़राबी की वजह से एरोप्लेन की यह उड़ान 5 घंटे बाद, सुबह कोई 6 बजे मॉस्को के लिए रवाना हुई। मैं समझ नहीं पा रहा था, आगे क्या होगा? मॉस्को पहुँचने पर भी अगली उड़ान कब मिलेगी-इसी उधेड़बुन और कच्ची नींद लिए दोपहर के आसपास मॉस्को हवाई अड्डे पर उतरा तो भारतीय घड़ी को रूसी घड़ी और मिज़ाज से मिलाना पड़ा। यह तो तय ही था कि सोफ़िया के लिए तय उड़ान तीन घंटे पहले जा चुकी थी और अगले दिन उसी उड़ान में जाने की सूचना मिली। खैर, हवाई अड्डे के पास ही, दूसरे मुसीबतज़दा मुसाफ़िरों को और मुझे भी एक शानदार होटल 'नोवोटेल' में ठहरा दिया गया। मेरा कमरा पाँचवीं मंजिल पर था और इसके शीशे के उस पार बारिश में धुला पुंछा मॉस्को हवाई अड्डा दीख रहा था। दूर से उसके रन-वे पर उतरते और उड़ते हवाई जहाज़ ऐसे दीख रहे थे--मानों स्कूली बच्चे मैदान में एक दूसरे से होड़ लगाते हुए काग़ज़ी हवाई जहाज़ उड़ा रहे हों। तमाम सुविधाओं के बावजूद, हम अतिथि होने के बावजूद खुद को राजनीतिक बंदियों-सा महसूस कर रहे थे। हमारा सामान हवाई अड्डे पर ही पड़ा था और पासपोर्ट वगैरह सुरक्षा अधिकारियों के जिम्मे। पूरा होटल एक दुर्ग-सा प्रतीत हो रहा था। ऐसा सुरक्षा कारणों के नाते ही किया गया था।

सोफ़िया विश्वविद्यालय : साहित्य एवं संस्कृतिक अध्ययन का विशिष्ट संस्थान; बाल्कन क्षेत्र का सर्वोत्तम शिक्षण केन्द्र

दूसरे दिन, मॉस्को हवाई अड्डे पर तमाम औपचारिकताओं के बाद उसी उड़ान से, तय समय पर हवाई जहाज़ उड़ा और दो घंटे बाद, सोफ़िया हवाई अड्डे पर उतरा। फोन द्वारा या ई-मेल द्वारा कोई संपर्क न हो पाने के कारण आशंका बनी हुई थी कि शायद हवाई अड्डे के बाहर एक दिन बाद, शायद ही कोई अगवानी करने को मिले। मैंने मन ही मन तय कर लिया था कि टैक्सी लेकर 'ईस्ट वेस्ट इंडोलोजिकल फ़ाउंडेशन' के कार्यालय तक पहुँच जाऊंगा। छोटी-मोटी औपचारिकताएँ निपटाकर और ट्रॉली में बक्से-थैले चढ़ाकर बाहर निकला ही था कि फूलों का गुलदस्ता और गुलाबी मुस्कान लिए हिन्दी विभाग, सोफ़िया स्टेट विश्वविद्यालय की रीडर डॉ. नादिया रोज़ोवा दीख पड़ीं। इनसे मेरी मुलाकात दिल्ली में कुछ सप्ताह पहले ही हुई थी। इस बीच यात्रा की थकान तो मिट ही चुकी थी-पिछले दो-ढाई दिनों का तनाव भी पलक झपकते दूर हो गया। मैं अब फूलों के देश-बुल्गारिया की राजधानी सोफ़िया में था और रवीन्द्रनाथ के एक गीत की पंक्तियाँ

मन-ही-मन गुनगुना रहा था-'चिनि गो चिनि आमि तोमाय आगो विदेशिनी, तुमि थाको सागर पारे...' (अरी ओ विदेशिनी, मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ, मुझे पता है तुम सागरपार रहती हो।)

मुझे शहर के मध्य में, राई होटल के एक कमरे में ठहराया गया था--यह एक शांत रिहाइशी इलाका था। यहीं मुझे थोड़ी देर बाद हिन्दी विभाग के दो युवा छात्र-निकोलाई यानकोव और येलेना श्तेरेवा मिले। बेहद हँसमुख, सजीले, शर्मीले और सेवा भाव वाले। उन्हें मेरी देखरेख और कहीं आते-जाते साथ रहने के लिए भेजा गया था--ताकि मैं नि:संकोच उन्हें अपनी कोई भी परेशानी या तकलीफ बता सकूँ। लेकिन ऐसा कुछ था ही नहीं। होटल में सारी सुविधा मौजूद थी। उन्होंने मुझे अगले तेरह दिनों तक का निर्धारित कार्यक्रम (कम्प्यूटर प्रिंट) सौंप दिया जिसमें प्रत्येक दिन की व्यस्तता--संस्थानों में व्याख्यान आदि तथा आराम और अवकाश आदि के साथ सैर-सपाटे की जगहें, होटलों के नाम-पते आदि दर्ज थे। मेरे लिए यथासमय एक कार, ड्राइवर और दुभाषिये वगैरह की व्यवस्था भी की गई थी। चूँकि इन दो-तीन महीनों में बुल्गारिया का मौसम सर्वाधिक अनुकूल होता है--इसलिए सारे कार्यक्रम निर्धारित समय पर संपन्न हो जाएंगे, उन दोनों युवा छात्रों ने मुझे आश्वस्त किया और दूसरे दिन 'सुबह नौ बजे फिर आएँगे', कहकर विदा हुए।

इवान वाजोब (1850-1921) बुल्गारिया के राष्ट्रीय कवि की आवक्ष प्रतिमा

इस बीच, सोफ़िया के बारे में जितना जान पाया था, वह सतही और किताबी ही था। सोफ़िया स्टेट यूनिवर्सिटी में भी, आज से बीस-बाइस साल पहले भारत विद्या विभाग खुला था तो इसकी तत्कालीन युवा अध्यक्ष श्रीमती योर्दान्का बोयानोवा ने हिन्दी, संस्कृत, भारतीय साहित्य का इतिहास एवं हिन्दी से बुल्गारियाई और बुल्गारियाई से हिन्दी में अनुवाद की समस्या पर केन्द्रित पाठ्यक्रम प्रारंभ किया था एवं कई वर्षों तक इसे संचालित करती रही थीं। आज भी ये चारों पाठ्यक्रम वहाँ बी.ए. स्तर के प्रमुख विषय हैं। इस पाठ्यक्रम के उद्देश्यों में एक है--भारत विद्या शास्त्र की प्रमुख कृतियों की जानकारी के साथ प्राच्य दृष्टि का विस्तार।

वर्ष 1997 में 'ईस्ट वेस्ट इंडोलॉजिकल फ़ाउंडेशन' की स्थापना इन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की गई थी। श्रीमती योर्दान्का बोयानोवा ने इसकी स्थापना ब्रज एकेडेमी, वृन्दावन के संरक्षक एवं साधक श्री पाद बाबाजी महाराज की प्रेरणा से की, ऐसा वे बताती हैं। भारत को वे अपनी दूसरी जन्मभूमि और प्रेरणाभूमि मानती हैं। फ़ाउंडेशन की स्थापना में, अवश्य ही उन्होंने बुल्गारिया और भारत के मित्रों, शुभचिंतकों और विद्वानों के साथ शिक्षकों का सहयोग भी प्राप्त किया। परंपरागत भारतीय संस्कृति, साधना पद्धति, चिंतन प्रणाली, शिक्षा व्यवस्था (गुरु परंपरा सहित), मानवीय सौहार्द, करुणा, वैश्विक दृष्टि और प्रकृति-प्रेम – इन सबको उन्होंने अपने फ़ाउंडेशन के लक्ष्यों में सम्मिलित किया है। भारतीय दर्शन, धर्म, चिंतन, आध्यात्मिक आचरण से संबंधित गतिविधियों को जानने-समझने के साथ केवल शिक्षण या पाठ्यक्रम तक ही सीमित न रखकर जीवन में भी उतारने की जरूरत है। दरअसल मॉस्को स्टेट विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. तथा भाषाविज्ञान की उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद, बोयानोवा सोफ़िया विश्वविद्यालय के क्लासिकल और आधुनिक भाषाशास्त्र संकाय

के अधीन 'सेंटर ऑफ ईस्टर्न लैंग्वेजेज़ एंड कल्चर्स' में कार्यरत थीं। बाद में, वे भारत विद्या (इंडोलॉजी) अनुभाग की अध्यक्षा के नाते छात्रों को हिन्दी-संस्कृत तथा भारतीय साहित्य का इतिहास पढ़ा रही थीं। इन दिनों वे 'ईस्ट वेस्ट इंडोलॉजिकल फ़ाउंडेशन' की अध्यक्ष हैं।

भारतीय दर्शन, इसके आख्यानों तथा क्लासिकल (गौरव) ग्रंथों के साथ भारतीय अध्यात्म में गहरी रुचि रखनेवाली श्रीमती बोयानोवा ने 1983-84 के दौरान श्रीमद्भगवत्गीता एवं मध्यकालीन भक्ति आंदोलन से संबंधित शोध योजना को सम्पन्न किया था। तब से वे कई बार भारत आ चुकी हैं। अक्तूबर 1990 में तीर्थभ्रमण परंपरा पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद में उन्होंने उक्त फ़ाउंडेशन की स्थापना का संकल्प किया था। भारत और बुल्गारिया के कई विद्वानों, चिंतकों एवं दर्शन तथा शिक्षण संस्थाओं से संबद्ध लोगों ने इस योजना को मूर्त्त होते देख प्रसन्नता व्यक्त की थी। वस्तुत: इस कार्य में हुए अनावश्यक विलंब का एक बड़ा कारण था--वर्ष 1989 में, बुल्गारिया के शिक्षण संस्थानों में जनतांत्रिक प्रक्रिया आरंभ हुई, पुरानी जकड़बंदी दूर हुई और मुक्त अर्थव्यवस्था में गैर-सरकारी संस्थाएँ अपनी-अपनी योजनाओं को लागू करने के मामले में अब अधिक स्वतंत्र थीं और स्वायत्त भी। अब प्राच्य विद्या या भारत विद्या के शिक्षण तथा प्रसार के लिए तथा अन्य साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के मामलों के लिए धन या अनुदान जुटाने के लिए गैर-सरकारी संस्थानों तथा वित्तीय प्रतिष्ठानों से सहयोग लिया जा सकता था। अंतत: इस दिशा में भी आरंभिक सफलता मिली और इसके बाद फ़ाउंडेशन की सक्रियता भी बढ़ी। इस संस्था का उद्देश्य, भारतीय आदर्शों, मूल्यों, परंपराओं एवं भाषा को प्रभावित करनेवाले क्लासिकल ग्रंथों एवं आम्नायों, तथा कालजयी ग्रंथों--वेद, उपनिषद्-पुराण के साथ रामायण, महाभारत, दर्शनग्रंथ आदि से अपने देशवासियों को परिचित कराना है। साथ ही उन मानवीय एवं वैश्विक मूल्यों को रेखांकित करने पर विशेष ज़ोर है, जिनकी आज कहीं अधिक जरूरत है। क्या ये प्राचीन मूल्य आज पश्चिमी प्रभावों में आकंठ डूबे विश्व को कोई सकारात्मक संदेश देने की स्थिति में हैं? स्वयं भारत अपनी सांस्कृतिक धरोहरों से कितना कटता जा रहा है और धर्म, जाति, कुनबापरस्ती और संकीर्ण समाजों तथा समुदायों में बँटता जा रहा है, यह हम भारतीय कहीं अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन अपने महान ग्रंथों और उनमें सुरक्षित मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं तथा संदेशों द्वारा तथा भारत की आज भी जो विशिष्ट गुरु-छवि है, उसे पश्चिमी जगत कहीं अधिक गंभीरता और विश्वास के साथ ग्रहण करना चाहता है तथा अपने प्रश्नों के समाधान हमारी आस्थाओं, हमारे आम्नायों एवं आख्यानों से पाना चाहता है। उदाहरण के लिए गीता के बारे में श्रीमती बोयानोवा का कहना है, ''इसका महत्व एवं इसकी असाधारण भूमिका, इसके पारंपरिक शैक्षिक ढांचे में तो है ही, सामाजिक-बौद्धिक पद्धति में भी इसके पाठ (टेक्स्ट) की असाधारण महत्ता है। इस पाठ में अंतिम लक्ष्य की अनुभूति हेतु ज्ञान का आवश्यक एवं पर्याप्त प्रेषण निहित है। गीता उस संपूर्ण आध्यात्मिक-शैक्षिक पद्धति तथा विशिष्ट संस्कृति का अपनी तरह का 'अव-पाठ' (हाइपो टेक्स्ट) प्रतीत होता है, जो भारत प्रायद्वीप के भू-भाग के पार बहुत पहले भी जीवंत रहा था और आज भी है।... इसीलिए गीता प्रत्येक मनुष्य को-प्राच्य हो या पाश्चात्य-उसके अपने स्वभाव एवं व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों, गुणों एवं अभिप्रेत जीवन आयामों के बारे में उसके ज्ञान एवं जागरूकता को व्यापकता प्रदान करने, उदार बनाने तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष पाने की संभावना उपलब्ध कराता है।''

भारतीय विद्या को एक सार्वभौम और मानवीय अनुशासन मानते हुए इस फ़ाउंडेशन ने उन धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतन-सरणियों को भी अपने पाठ्यक्रम एवं कार्यक्रमों में स्थान दिया है, जो छात्रों को इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दें। अपने प्रयासों को मूर्त रूप देने के लिए इसने न केवल सोफ़िया विश्वविद्यालय में, बल्कि देश के दूसरे बड़े शिक्षा संस्थान न्यू सोफ़िया विश्वविद्यालय के एम.ए. के पाठ्यक्रम में भारत विद्या को सम्मिलित कराने में सफलता पाई है। यदि किसी शोध अध्येता की इस दिशा में रुचि है और उसे हिन्दी एवं संस्कृत का आधारभूत भाषाज्ञान है तो वह फ़ाउंडेशन के सहयोग से कोई शोध परियोजना भी प्राप्त कर सकता है और साथ ही आर्थिक अनुदान भी। ऐसी परियोजना की शुरुआत 'हिन्दी-बुल्गारिया इलेक्ट्रोनिक शब्दकोश' के निर्माण से की गई थी। यही नहीं, हिन्दी भाषा का सम्यक् ज्ञान-प्राप्त करने के बाद, हिन्दी कथाकारों की कई कहानियाँ बुल्गारियाई भाषा में अनूदित की गईं और विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशन के बाद, पुस्तकाकार मुद्रित भी हुई हैं। यहाँ यह जोड़ना आवश्यक होगा कि सोफ़िया विश्वविद्यालय में भारत विद्या का अध्ययन आरंभ

CMYK # 61

होने के सत्रह-अठारह वर्षों के बाद भी, इसके पाठ्यक्रम से संबंधित आधार ग्रंथों का अभाव बना हुआ था। इस कमी को हिन्दी व्याकरण (बुल्गारियाई भाषा में) प्रकाशित कर फ़ाउंडेशन ने एक बड़ा दायित्व पूरा किया। दरअसल फ़ाउंडेशन का लक्ष्य है-विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं के लिए, इसके बँधे-बँधाए पाठ्यक्रम से अलग एक उन्मुक्त एवं उपयुक्त मंच तैयार करना-ताकि वे अपनी रुचि एवं जिज्ञासा के अनुरूप भारत-विद्या के बहुविध स्वर एवं स्वरूपों का, लोक या शास्त्र निहित पक्ष का, प्राचीन अथवा नवीन चिंतन एवं जीवन से संबद्ध पद्धतियों का स्वतंत्र या तुलनामूलक अध्ययन कर सकें। इसके लिए, व्याख्यान, वीडियो-सह-विषय निरूपण, फ़िल्म प्रदर्शन, गायन, चित्र प्रदर्शनी, नृत्य एवं नाट्य-प्रस्तुति तथा भारत से पधारे लेखकों एवं साहित्यकारों या आमंत्रित विशेषज्ञों से भेंटवार्ता का आयोजन किया जाना है। छोटे समूह बनाकर कार्यशाला आयोजित करने तथा परिसंवाद द्वारा विमर्श को आगे बढ़ाने पर भी ज़ोर दिया जाता है। बुल्गारिया के 'फ्रेंड्स ऑफ इंडिया क्लब' के सदस्य भी फ़ाउंडेशन के कार्यक्रमों में सहभागिता करते रहे हैं।

उक्त फ़ाउंडेशन के अधीन भारत विद्या परिषद का भी औपचारिक गठन किया गया है। इसके सदस्यों से समय-समय पर सुझाव माँगे जाते हैं और कार्यक्रम की दिशा निर्धारित की जाती है। इस परिषद के मान्य सदस्य हैं--प्रो.एन.एम. सजानोवा (एशिया एवं अफ्रीकन अध्ययन संस्थान, मॉस्को स्टेट यूनिवर्सिटी की भूतपूर्व अध्यक्ष; अभी तीन माह पूर्व ही उनका निधन हुआ), डॉ. लुसी रोटेन्स्टाइन (प्राच्य एवं अफ्रीकी अध्ययन संस्थान, लंदन), डॉ. मिरेला लिंगोर्स्का (भारत विद्या विभाग, ड्रुबिजन विश्वविद्यालय), तथा भारत के सुपरिचित कथाकार, लेखक श्री हिमांशु जोशी ओर डॉ. गंगाप्रसाद विमल भी इसके अतिथि सदस्य हैं। इसी तरह, फ़ाउंडेशन के प्रकाशन केन्द्र को इसके मानद निदेशक की देखरेख में चलाया जाता है। केन्द्र का प्रयास है कि जिन आधारभूत ग्रंथों तथा उपयोगी सामग्री का बुल्गारियाई भाषा में प्रकाशन हो, उसे संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, हिन्दी तथा इसकी सहभाषाओं एवं बोलियों के नमूनों के साथ प्रस्तुत किया जाए--ताकि भाषा की लेखन-पद्धति, लिपि एवं संरचना का सीधा परिचय प्राप्त हो सके। ऐसी प्राचीन पांडुलिपियों की अनुकृति के साथ उनकी 'माइक्रोफ़िल्म' तैयार कराने की योजना है।

फ़ाउंडेशन की प्रकाशन शृंखला को 'परंपरा एवं आधुनिकता' (ट्रैडिशन एंड मॉर्डनिटी) के अंतर्गत विभाजित किया गया है। हालाँकि भारतीय उप-महाद्वीप के संबंध में, जिसका फ़लक इतना सुविस्तृत और साहित्य इतनी विपुल मात्रा में है कि कोई भी विभाजन अपर्याप्त ही प्रतीत होगा--विशेषकर यदि इसकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक परंपरा तथा निरंतरता को ध्यान में रखा जाए, तो भी प्रकाशन कार्यक्रमों को सुविधानुसार तीन वर्गों में बाँटा गया है ताकि अन्यान्य संस्कृतियों एवं उनके साहित्यिक अवदानों को विभिन्न युगों, कालखंडों या चरणों में रखकर अध्येयताओं को परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करने में आसानी हो। ये विभाजन निम्न प्रकार हैं-

- भारतीय क्लासिक्स (कालजयी/गौरव ग्रंथ)
- समकालीन भारतीय साहित्य
- भारत विद्या अध्ययन

इसलिए अपनी बुल्गारिया यात्रा के दौरान सोफ़िया के व्यस्त ट्रैफिक और चहल-पहल भरी सड़कों से निकलकर, 24 पैट्रिआर्क एवटिमी वेलवेडिर स्थित पहली मंजिल के कार्यालय पहुँचा तो वहाँ पहले से ही, श्रीमती बोयानोवा और उनके पति श्री बोरिस बोयानोवा उपस्थित थे। एक हँसमुख, सक्रिय और एक दूजे के लिए समर्पित युगल। ढलती हुई शाम के बावजूद और अपनी व्यस्त दिनचर्या से समय निकाल कर दोनों ने मेरी अगवानी की। अत्यंत सुरुचिपूर्ण ढंग से सजे दो-तीन कमरों, सभा-कक्ष और स्वागत कक्ष वाले इस कार्यालय में भारतीयता की सुरभि तैर रही थी। दीवारों पर लगे चित्र, साहित्यकारों की तस्वीरें, अलमारियों में सजी किताबें, तिपाइयों पर रखी मूर्तियाँ, स्मारिकाएँ, उपहार और फूलदान वगैरह--जिनके बीच किसी को भी अपनत्व का अहसास हो सकता था। वहीं मुझे एक-एक कर फ़ाउंडेशन द्वारा प्रकाशित कुछ किताबें भी देखने को मिलीं। इनमें 'एडवांस हिन्दी कोर्स'--जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है--उसके दोनों परिवर्धित खंड देखने को मिले। साथ ही दूसरी पुस्तकें भी--

- निर्मल वर्मा का कहानी-संग्रह -- 'बर्ड्स' (परिन्दे)
- कमलेश्वर का कहानी-संग्रह -- 'द ब्लू लेक' (नीली झील)

- बौद्ध जातक कथाओं का संकलन -- 'द साइलेंस ऑफ अवेकन'
- संस्कृत एवं तिब्बती में उपलब्ध सुभाषितों का संग्रह -- 'वर्ड्स एमुलेट्स'
- मध्यकालीन दक्षिण भारतीय भक्तिमूलक पदों का परिवर्धित एवं संशोधित संग्रह -- 'स्पीकिंग ऑफ शिवा'।

इसी क्रम में इवान काम्बुरोव द्वारा 'प्राचीन भारतीय दर्शन में वैचारिक शिखर'-- जो उनकी शोध योजना (एंशिएंट इण्डियन फ़िलोसफ़ी इन द पैराडाइज़ ऑफ विज़्डम) की पुस्तकाकार प्रस्तुति है। कहना न होगा, इसी कड़ी में कई अन्य कृतियाँ भी प्रकाशनाधीन हैं। श्रीमती योर्दान्का भारतीय चाय पिलाती हुई बताने लगीं कि इस फ़ाउंडेशन के लिए स्थान की समस्या तो है ही, संसाधनों की भी कमी है। आशा है, इसी कार्यालय के कुछ और कमरे भविष्य में उपलब्ध हो सकेंगे। अन्य कार्यक्रमों पर भी विचार हो रहा है। उनकी योजना एक वाचनालय एवं पुस्तकालय निर्माण की भी है--जिससे भारतीय साहित्य, दर्शन, धर्म, स्थापत्य, संगीत, नृत्य नाटक, ललित कलाओं से सम्बद्ध ग्रंथ, लोकवृत्त--यानि संस्कृति के हर अंग और अंश का समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके। यह योजना बहुत बड़ी है और इस फ़ाउंडेशन की यात्रा बहुत छोटी है, तो भी भारत अपने श्रेष्ठ और विशिष्ट रूप में यहाँ उपस्थित और लोगों को उपलब्ध हो सके--यही उनका स्वप्न है।

> **"आधुनिकता और कई तरह की अनिवार्यताओं और आकस्मिकताओं ने भी बुल्गारिया को अधिक सहिष्णु और प्रौढ़ बना दिया है। यही कारण है कि कई राजनीतिक परिवर्तनों और राजनीतिक उठापटक के बावजूद यह देश टूटा नहीं और इस बीच तेज़ी से समृद्धि और शांति की ओर बढ़ चुका है।"**

इस दिशा में, फ़ाउंडेशन में 'एडवांस रिसर्च संेटर ऑफ इण्डोलॉजी एंड कल्चर'-- का एक केन्द्र बनाया जाना है, ताकि प्राच्य विचारधारा का एक मुक्त मंच, विश्वविद्यालय के रूप में सक्रिय होकर अपने लघु एवं दीर्घ पाठ्यक्रमों एवं शोध योजना को पूरा कर सके। यहाँ पश्चिमी देशों के हर उम्र के जिज्ञासु अपनी रुचि और समय-सीमा को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम एवं परियोजना का चयन कर सकेंगे। आगे भी वे इस क्षेत्र में कार्य कर सकें, इसके लिए भी केन्द्र सहायता एवं सूचना प्रदान करेगा। दम्पति के अनुसार, अभी भी कोई गर्व करने या ज़्यादा कुछ बताने लायक बात नहीं हुई है। उनकी इच्छा है कि यह फ़ाउंडेशन इसी दिशा में कार्यरत अन्य सक्रिय संसाधनों से भी संपर्क रखते हुए, निकट भविष्य में यूनेस्को से सम्बद्ध हो सके। मैंने उनसे अनुरोध किया कि उन्हें भारत सरकार से सोफ़िया स्थित दूतावास के माध्यम से 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद' (आई.सी.सी.आर.) से संपर्क करना चाहिए। यदि इस दिशा में परिषद सोफ़िया में 'नेहरू सेंटर' जैसी गतिविधि जल्द आरंभ कर सके और तब निश्चय ही, यहाँ के नागरिकों को, जो भारत के बारे में पर्याप्त रुचि रखते हैं, और अधिक जानकारी मिल सकेगी।

अपनी देशव्यापी यात्राओं, विश्वविद्यालयों में व्याख्यान तथा संचार माध्यमों (बुल्गारिया टीवी तथा रेडियो) एवं पत्रकारों से हुए साक्षात्कार के दौरान मैंने पाया कि वहाँ के युवक-युवतियों में भारत के प्रति न केवल गहरी रुचि है, बल्कि पर्याप्त सम्मान भी है। इधर जब से मित्तल इस्पात कंपनी ने बुल्गारिया में नये इस्पात संयंत्र की स्थापना के लिए भारी-भरकम निवेश की घोषणा की है--भारत के प्रति उनका आग्रह और अधिक बढ़ गया है। बुल्गारिया की देश भर में चौड़ी-चिकनी सड़कों के किनारे मित्तल समूह के बड़े-बड़े हॉर्डिंग्स देखे जा सकते हैं। प्लोदीव, नासाबार, वार्ना या कजालिक--हर बड़े शहर और समुद्र नगरों में। मेरा दुभाषिया निहरेन नई-नई सूचनाओं की जानकारी देता हुआ मुझे उन हॉर्डिंग्स की तरफ संकेत कर मुस्करा देता था। उसे लगता था इस व्यापारिक समझौते से संभव है भारत से सोफ़िया के बीच सीधी विमान सेवा आरंभ हो और तब बुल्गारिया, रोमानिया, ग्रीस और टर्की-जैसे सेक्टर में भारत से और अधिक पर्यटक आ सकेंगे। इस क्षेत्र में पर्यटन-क्षेत्र को विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि

ये देश पूर्व पश्चिम की जीवंत एवं ऐतिहासिक कड़ी हैं--यहाँ के संग्रहालय, रोमन राज्य के खंडहर, पुरानी इमारतें, मोनास्टरीज़, चर्च, उपासना स्थल, समुद्रतट और सबसे बढ़कर आत्मीयतापूर्ण आतिथ्य एवं रुचिकर व्यंजन, किसी भी पर्यटक को वर्षों याद रहेंगे, इतना मैं बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूँ।

अपनी समय सीमा में बुल्गारिया के विभिन्न दर्शनीय स्थलों को देखने के दौरान मैंने स्पष्ट तौर पर देखा कि आधुनिक बुल्गारिया समसामयिक एवं तात्कालिक सामाजिक प्रश्नों और साहित्यिक प्रसंगों को जितना महत्व देता है, उतना ही अपने अतीत को भी। उसकी यह जातीय चेतना उसे पिछले दो-ढाई हज़ार वर्षों के इतिहास से सम्बद्ध करते हुए, उसे परम्परागत मूल्यों एवं आदर्शों से भी आश्वस्त करती है। वहाँ के विद्वान, भाषाशास्त्री और साहित्यकार इस वैशिष्ट्य को बड़े गर्व से अपनी प्राचीन धरोहर और अवशेषों से संपुष्ट करते रहे हैं, जिन्हें मैंने उनके संग्रहालयों--यहाँ तक कि पुराने चर्चों और उपासना-गृहों में – और बड़े जतन से संजोए गए अवशेषों को देखा, जहाँ पर्यटकों की लंबी कतार लगी रहती थी।

यद्यपि समकालीन बुल्गारिया का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पश्चिमी आधुनिकता में रँगता जा रहा है--वहाँ वह अपनी जातीय पहचान को अतीत के मूल्यवान स्रोतों से पुष्ट करता रहा है। इसलिए समकालीन साहित्य से हुए अंतरंग परिचय एवं इसके प्रति पर्याप्त आग्रह के बावजूद, वह प्राचीन साहित्यिक कृतियों में अपनी जातीय गाथाओं और स्मृति के अवशेष ढूँढता रहा है, जिनमें यूनानी, रोमा यहाँ तक कि जिप्सी जैसी ख़ानाबदोश जातियाँ भी शामिल हैं। चूँकि बुल्गारियाई समाज बहुजातीय, बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक ताने-बाने से बुना एक उदार और उन्मुक्त समाज है, इसलिए वहाँ कई धार्मिक स्थलों, विश्वासों, जातिविशेष से जुड़े केन्द्र, विविध संग्रहालय एवं संस्थान, विभिन्न गतिविधियों के साथ सक्रिय हैं। आधुनिकता और कई तरह की अनिवार्यताओं और आकस्मिकताओं ने भी बुल्गारिया को अधिक सहिष्णु और प्रौढ़ बना दिया है। यही कारण है कि कई राजनीतिक परिवर्तनों और राजनीतिक उठापटक के बावजूद यह देश टूटा नहीं और इस बीच तेज़ी से समृद्धि और शांति की ओर बढ़ चुका है। विशेषकर 1989 में सत्ता परिवर्तन तथा इसके जनतांत्रिक स्वरूप में आए बदलावों के कारण हुए आर्थिक उदारीकरण और उन्मुक्त बाज़ारवाद के बाद। ऐसे में उन स्रोतों और शक्तियों की पहचान के साथ उन्हें सुरक्षित रचाने की भी आवश्यकता थी, जिनसे इस देश का व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। बुल्गारिया पश्चिमी योरोप का ऐसा देश है, जहाँ वह अपनी बहुजातीय विरासत पर गर्व कर सकता है। रोमन, यूनानी, थ्रेसियन, तुर्की (ऑटोमान) आदि जातियों के मिश्रण एवं प्रभाव के कारण इसकी सांस्कृतिक बहुलता विविधवर्णी है, बहुस्तरीय है, और यह भारत उपमहाद्वीप जैसी ही प्रतीत होती है। साथ ही, यह प्राच्य (ओरिएंटल) जीवन पद्धति और मूल्यों से, आरंभ से ही, अपनी सामाजिक दृष्टि विकसित करता रहा है। यह दृष्टि उसे संयमित, मर्यादित और अर्थवान जीवन जीने की प्रेरणा देती है। तभी यह देश भारतीय साधना, साहित्य, संस्कृति की कालजयी पहचान से जुड़ना चाहता है ताकि प्राच्य एवं पाश्चात्य जीवन मूल्यों एवं शैलियों में वह समुचित सामंजस्य बिठा सके।

जहाँ तक भारतीय राजनय और प्रभावी अधिकारियों की बात है, श्रीमती बोयानोवा इस बात से संतुष्ट दीख पड़ीं कि उनका प्रयास धीरे-धीरे रंग ला रहा है। स्वयं बुल्गारिया सरकार के शिक्षा, संस्कृति, न्याय और वैदेशिक मामलों से संबद्ध विभाग उनके फ़ाउंडेशन में रुचि लेने लगे हैं और रचनात्मक एवं वैचारिक सहयोग के साथ, अनुदान भी प्राप्त होने की आशा है। हालाँकि फ़ाउंडेशन अपना व्यय भार उदारमना सज्जनों के आर्थिक अनुदानों से ही उठा पाता है। और तभी प्रस्तावित गतिविधियों को सफलतापूर्वक पूरा करना संभव हो पाता है। वे इस बात के लिए भी आभार जताती हैं कि सोफ़िया में भारत की राजदूत श्रीमती नीलिमा मित्र, फ़ाउंडेशन के संकल्पों को पूरा करने से जुड़ी तैयारियों से परिचित हैं और इसे दूतावास का नैतिक एवं वित्तीय सहयोग भी मिलता रहा है। दूतावास के अन्य अधिकारी भी भारत-बुल्गारिया के बीच स्थायी सांस्कृतिक संपर्क एवं सहयोग के इच्छुक हैं। और ऐसी ही सदिच्छा एवं सदाशयता की बुनियाद पर 'ईस्ट वेस्ट इंडोलॉजिकल फ़ाउंडेशन' की संकल्पना एक दिन नई ऊँचाइयाँ अवश्य ही प्राप्त कर सकेगी।

– डा. रणजीत साहा
भारतीय भाषा केन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

डॉ० सीताराम पोद्दार

जमैका में भारतीय और भारतीय संस्कृति

जहाँ-जहाँ ये भारतीय मजदूर गए अपनी गठरी में एक अमूल्य निधि लेते गए थे। वह थी रामायण या गीता की पुस्तक या फिर तुलसीदास, सूरदास, कबीर, रहीम और मीरा के भजन। गाने-बजाने के लिए किसी के पास झांझ-मजीरा था तो किसी के पास ढोलक- तबला तो किसी के पास सारंगी या हारमोनियम। जब भी मौका मिलता रामायण/ गीता पढ़कर और भजन-गीत गाकर ये अपने कष्टों को भुलाने की कोशिश करते। अपने धर्म-संस्कारों में विश्वास और जीवट ने इनकी पहचान बनाए रखी।

जमैका की स्वतंत्रता की 40 वीं वर्षगांठ समारोह में भाग लेते हुए भारतीय समुदाय का फ्लोट

किंग्स्टन (जमैका) की एक सब्जी मण्डी में हम सब्जियाँ और फल खरीदने गए थे। सब्जी बेचनेवाली एक अफ्रीकन महिला की 5 वर्ष की बच्ची ने जब हमें इन्डियन कहकर पुकारा तो हमें आश्चर्य हुआ कि यह छोटी बच्ची भी हमें पहचानती है कि हम इन्डियन हैं। अपने देश के बाहर हमारी यही तो पहचान है। हमारे नाक-नक्शे, डील-डौल, चाल-ढाल, वेश-भूषा, खान-पान, तौर-तरीके, रीति-रिवाज यही सब तो हमें दूसरों से भिन्न करते हैं।

एक दिन एक महिला ने हमें टेलिफोन किया। वह जानना चाहती थी कि जमैका में इन्डियन डान्स कहाँ सिखाया जाता है। जमैका में कोई 'इन्डियन कल्चरल सेन्टर' नहीं है। एक प्रवासी भारतीय महिला अपने घर पर डान्स सिखाती है सो मैंने उसे उसका नाम-पता बता दिया। जिज्ञासावश मैंने टेलिफोन

करनेवाली महिला से उसका नाम पूछा तो वह कुछ झिझक कर बोली कि पहले 'गोलाब' थी किन्तु अब 'ब्राउन' हो गई है। मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि इस महिला का उपनाम शादी से पहले गोलाब (गुलाब का अपभ्रंश) था किन्तु इसने किसी जमैकन अफ़्रीकन से शादी कर ली है जिसके बाद इसका उपनाम ब्राउन हो गया है। ऐसी शादियाँ होती रहीं, वर्णसंकर पीढ़ियाँ आती गईं तो दो-तीन पीढ़ियों के बाद जो इन्डियन पहचान है उसका लुप्त होना स्वाभाविक है।

जमैका में रहने वाले भारतीयों के तीन विशिष्ट समुदाय हैं। पहला जो सबसे बड़ा समुदाय है, उन भारतीय मूल के लोगों का है जिनके पूर्वज 1845 से 1917 के बीच बँधुआ मजदूरों की हैसियत से भारत (मुख्यत: उत्तर प्रदेश और बिहार) से यहाँ आए थे। दूसरा समुदाय उन भारतीय व्यापारियों का है जो अपेक्षाकृत हाल में 1930 के बाद यहाँ व्यापार करने आए और उनमें से बहुत यहीं बस गए। इनमें अधिकतर सिन्धी और कुछ गुजराती हैं। तीसरा समुदाय उन भारतीय पेशेवरों का है जो शिक्षण-संस्थाओं (स्कूल, कॉलेज, युनिवर्सिटी), सरकारी और गैर-सरकारी विभागों में दो-तीन वर्ष के अनुबन्ध पर नौकरी करने आते हैं। भारतीय पेशेवरों में से जिन्हें अधिक काल के लिए रहने का अवसर मिल जाता है, वे प्राय: यहीं बस जाते हैं।

बँधुआ मजदूरों की जरूरत औपनिवेशिक सरकार (ब्रिटेन) को गुलामी प्रथा की समाप्ति और 1838 में गुलामों को पूर्ण स्वतंत्रता मिलने के बाद पड़ी। गुलाम नहीं रहे तो उनके काम करे कौन ! उनके उपनिवेशों में गन्ने के खेत और केले के बागानों में काम करने के लिए सस्ते मजदूर चाहिए थे। अत: उस समय ब्रिटिश शासित भारत देश से जमैका और अन्य कैरेबियन देश त्रिनिदाद, गयाना, सूरीनाम तथा कई और उपनिवेशों में बँधुआ मजदूरों को लाया गया। बहाली के वक्त एजेन्टों ने भारतीय मजदूरों को बहुत सब्ज़बाग दिखाए थे किन्तु जहाज यात्रा में और विभिन्न उपनिवेशों में आने पर जो मुसीबतें झेलनी पड़ीं उनकी इन भोले-भाले मजदूरों ने कभी कल्पना नहीं की थी। गोरे मालिकों का व्यवहार इन मजदूरों के प्रति बहुत ही अमानवीय होता था।

जहाँ-जहाँ ये भारतीय मजदूर गए, अपनी गठरी में एक अमूल्य निधि लेते गए थे। वह थी रामायण या गीता की पुस्तक या फिर तुलसीदास, सूरदास, कबीर, रहीम और मीरा के भजन। गाने-बजाने के लिए किसी के पास झांझ-मजीरा था तो किसी के पास ढोलक-तबला तो किसी के पास सारंगी या हारमोनियम। जब भी मौका मिलता रामायण/गीता पढ़कर और भजन-गीत गाकर ये अपने कष्टों को भुलाने की कोशिश करते। अपने धर्म-संस्कारों में विश्वास और जीवट ने इनकी पहचान बनाए रखी। जो कमजोर थे वे फिसल गए और अपनी पहचान खो बैठे - ऐसे लोगों के ही वंशज वर्णसंकर हो गए।

तबला बजाते हुए भारतीय समुदाय का एक नौजवान

जमैका में भारतीय बँधुआ मजदूरों के वंशजों की संख्या कुल आबादी (करीब 30 लाख) की डेढ़ प्रतिशत ही है। वर्णसंकर पीढ़ी की गणना न की जाए तो संख्या और भी कम होगी। अन्य कैरिबियन देश त्रिनिदाद, गयाना और सूरीनाम में भारतीय मूल के लोगों की संख्या काफी है। त्रिनिदाद में तो 40 प्रतिशत से भी अधिक है। जमैका मुख्यत: अफ्रीकन मूल के बाशिन्दों का देश है जहाँ धर्म ईसाई और भाषा अंग्रेजी है। अल्पसंख्यकों में भारतीय, चीनी, यूरोपियन आदि आते हैं। यहाँ बसे भारतीयों के लिए कठोर विपरीत सांस्कृतिक परिस्थितियों और वातावरण में अपनी संस्कृति और परम्परा को बचाए रखना हमेशा से एक चुनौती रहा है।

कई सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों के प्रयास से भारतीयों ने अपनी संस्कृति को बचाए रखने की भरसक कोशिश की है। 1930 और 1940 के दशकों में ईस्ट इन्डियन एसोसियेशन ऑफ जमैका (1930), ईस्ट इन्डियन नेशनल यूनियन (1937) और ईस्ट इन्डियन प्रोग्रेसिव सोसायटी (1940) जैसी संस्थाओं ने जमैकन सरकार द्वारा भारतीय संस्कृति को मान्यता दिलवाई। ईस्ट इन्डियन प्रोग्रेसिव सोसायटी ने अप्रवास, शादी-विवाह और दाह-क्रिया कानूनों में संशोधन करवाया। 'कुली' शब्द का प्रयोग कानूनी रूप से वर्जित हुआ। ये संस्थाएं अब नहीं रही क्योंकि जिन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बनी थीं, वे पूरे हो गए।

सनातन धर्म मन्दिर (1960) और प्रेमा सत्संग ऑफ जमैका (1972) धार्मिक संस्थाओं ने हिन्दू धर्म को बचाए रखने में प्रशंसनीय काम किए हैं। इस्लामिक सोसायटी ऑफ जमैका (1950) ने मुसलमानों के लिए जो संख्या में भले ही बहुत थोड़े हों जिन-जिन परगनों (पैरिशों) में बसे वहाँ मस्जिदें बनवाईं और ये अपने धर्म के पालन और प्रचार में लगे हैं।

क्लब इन्डिया, इन्डियन कल्चरल सोसायटी ऑफ जमैका, आनन्द मार्ग सोसायटी, ब्रह्म कुमारी राज योग सेन्टर, ओचोरिओस इन्डियन एसोसियेशन, मॉन्टिगो बेनिवोलेन्ट इन्डियन ऐसोसियेशन इत्यादि अनेक संस्थाओं ने अपना-अपना योगदान दिया है किन्तु जमैका के विकास और भारतीय संस्कृति के लिए सबसे बड़ा योगदान बँधुआ मजदूरों और उनके वंशजों का रहा है। जमैका सरकार ने देश के विकास में भारतीयों के महत्वपूर्ण योगदान को मान्यता देते हुए 1995 में भारतीयों के आगमन दिवस 10 मई 1845 की 150वीं वर्षगांठ पर भारतीय आगमन दिवस 10 मई को "इन्डियन हेरिटेज डे" घोषित किया जो भारतीयों के लिए बड़े गर्व की बात हुई।

तासा ढोल बजाते भारतीय समुदाय के कलाकार

राष्ट्रीय स्तर पर अधिक प्रभावशाली होने के लिए भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में एकजुट होकर काम करने के महत्व को समझते हुए 1 मार्च 1998 को कई भारतीय संस्थाओं ने मिलकर "नेशनल काउंसिल फॉर इन्डियन कल्चर इन जमैका" नाम की एक छतरी संस्था (अम्ब्रेला ऑरगेनाइजेशन) की स्थापना की है। इस संस्था की स्थापना के बाद सांस्कृतिक कार्यक्रमों में ही वृद्धि नहीं हुई है बल्कि इन कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए लोग भी भारी संख्या में आने लगे हैं - भारतीय ही नहीं जमैकन भी।

यूं तो सभी छोटे-बड़े पर्व मनाये जाते हैं किन्तु दीवाली पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। मन्दिरों और घरों में

महालक्ष्मी देवी की पूजा की जाती है, दीप जलाए जाते हैं, नृत्य-संगीत से वातावरण गूँज उठता है, मिठाइयाँ बांटी जाती हैं। कई संस्थाएं दीवाली सहभोज का आयोजन करती हैं। इस अवसर पर विगत कई वर्षों से भारतीय उच्चायोग के सहयोग से दीवाली मेला भी लगाया जाता है जिसमें भारतीय पकवान, किराने और मसाले, पोशाकें, आभूषण, हस्तकला और चित्रकारी के सामानों के स्टॉल्स होते हैं। बच्चों के लिए खेल और सभी के मनोरंजन के लिए नाच-गाने और फैशन शो के कार्यक्रम होते हैं। बड़ी भीड़ होती है। सभी वर्गों के लोग दीवाली का आनन्द लेते हैं। स्थानीय अखबारों में दीवाली पर्व के बारे में लेख निकलते हैं और मेले के बारे में रिपोर्ट्स भी छपती हैं।

होली पर्व को यहाँ फगुआ नाम से जानते हैं। कुछ संस्थाएं ही इसे मनाती हैं किन्तु यह पर्व भी धीरे-धीरे लोकप्रिय हो रहा है। होली के कुछ दिन पहले से चौताल में (विशेषकर प्रेमा सत्संग धार्मिक संस्था इसका आयोजन करती है) जब लोग हारमोनियम, झांझ-मजीरा के संगीत और ढोलक की थाप पर ''होली खेले रघुबीरा अवध में ... ...'', ''खेलो रंग हमारे संग आज दिन होली का... ...'' आदि गाने झूम-झूम कर भाव-विभोर हो गाते हैं तब बड़ा ही सुन्दर समा बंध जाता है। होली के दिन छोटे, बड़े सभी एक दूसरे पर रंग छिड़कते हैं – पिचकारी न सही तो प्लास्टिक की बोतल ही सही। अबीर के बदले बेबी जॉन्सन टेल्कम पाउडर से ही काम चला लेते हैं। शाम में होलिका जलाई जाती है और प्रहलाद की भक्ति का बखान किया जाता है – बुराई पर अच्छाई की विजय !

दीवाली मेले में रोटी बनाने का प्रदर्शन

जमैका के क्लैरेन्डन परगना में जहाँ मुसलमानों की अच्छी संख्या है ''हुसै'' (हसन और हुसैन नाम का अपभ्रंश) पर्व बहुत लोकप्रिय है। इस देश में शरीर को चोट पहुँचाने पर कानूनी पाबन्दी है किन्तु लोग बड़े-बड़े ताजिया निकालते हैं। तासा नगाड़ों की गूंज, जोशीले नाच-गानों से पूरा माहौल उत्तेजनापूर्ण हो जाता है। प्रार्थना सभाएं होती हैं जहाँ मसीहा के त्यागों के गुणगान गाए जाते हैं। सब लोग प्यार से एक दूसरे से मिलते हैं, उनके बीच भाईचारा देखते ही बनता है।

बँधुआ मजदूरों के वंशजों के लिए 10 मई का दिन – उनके पूर्वजों द्वारा इस धरती पर पहला पैर रखने का दिन – ''इन्डियन हेरिटेज डे'' बहुत महत्व रखता है। जब से नेशनल काउन्सिल फॉर इन्डियन कल्चर की स्थापना हुई है तब से हर वर्ष 10 मई वाले सप्ताह को ''इन्डियन हेरिटेज वीक – भारतीय विरासत सप्ताह'' के रूप में मनाया जाता है।

(1) 10 मई को प्रार्थना दिवस में सभी धर्मों के लोग (हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, बहाई आदि) भाग लेते हैं। अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों से ईश्वर की वाणी सुनाते हैं, शुभकामनाएं देते हैं। पूजा, प्रार्थना, प्रवचन के बाद सभी आगत जनों को प्रसाद भोजन कराते हैं।

(2) 10 मई वाले सप्ताह में किसी दिन ''अवार्ड बैन्क्वेट – पारितोष भोज'' का आयोजन किया जाता है जिसमें उन भारतीयों को जिन्होंने जमैका में भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं विकास, सामाजिक सेवा, शिक्षा या अन्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उन्हें पारितोष दिया जाता है। इस शुभावसर पर भारतीय उच्चायुक्त के अलावा जमैका के राज्यपाल, प्रधानमन्त्री, शिक्षामन्त्री, संस्कृति मन्त्री या कोई अन्य विशिष्ट व्यक्ति मुख्य अतिथि के रूप में समारोह की शोभा बढ़ाते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया जाता है जिसमें बाहर के (त्रिनिदाद, न्यूयार्क, मियामी आदि स्थानों से आए हुए) कलाकार भी भाग लेते हैं। यह बहुत बड़ा समारोह होता है।

महात्मा गांधी की आवक्ष प्रतिमा के सामने भारतीय मूल के लोग

(3) 10 मई वाले सप्ताहान्त में साधारण जनता के लिए ''फैमिली फन डे - परिवार मनोरंजन दिवस'' उत्सव मनाते हैं। इस दिन जमैका के सभी वर्गों के लोग हजारों की संख्या में आते हैं और भारतीय खाने के साथ-साथ नाच-गाने और मनोरंजन के अन्य कार्यक्रम का मजा लेते हैं।

नेशनल काउंसिल फॉर इन्डियन कल्चर के सतत प्रयास और भारतीय उच्चायोग तथा जमैकन सरकार की मदद से सितम्बर 2004 में एक बहुत बड़ी उपलब्धि हुई जब संसार में शान्ति के दूत महात्मा गांधी की ऊर्ध्वकाय मूर्ति की स्थापना जमैका की राजधानी किंग्स्टन शहर के ''वर्ल्ड हीरोज पार्क'' में कराने में काउंसिल सफल हुई। भारतीय संस्कृति के शान्ति और प्रेम के सन्देश का प्रकाश हर जगह फैल रहा है।

जमैका में भारतीयों की थोड़ी ही आबादी है किन्तु भारतीय संस्कृति की छाप दिखाई देती है। कई बातें खलती हैं। भारतीयों के तीन विशिष्ट समुदायों में जितनी एकजुटता होनी चाहिए वह नहीं है। अच्छी बात यह है कि एकजुटता लाने की दिशा में प्रयास हो रहा है। भारतीय संस्कृति की विशालता और विविधता को जानने और अपनाने के प्रति इनकी उदासीनता के कारण इनके पूर्वज से विरासत में जो इनको मिला बस उसी को ये सब कुछ समझते हैं और वही सब इनके आचरण और व्यवहार में भी दीखता है। विरासत भी तो खांटी नहीं रही, अन्य प्रभावों से मिश्रित हो गई है। सबसे अधिक खलने वाली बात है कि हिन्दी भाषा ये बिल्कुल भूल गए हैं। जो हिन्दी गाने और भजन गाते हैं, वे सब रोमन लिपि में लिखे होते हैं। गा लेते हैं किन्तु उनका अर्थ नहीं समझते हैं। लेखक जमैका में हिन्दी भाषा की शिक्षा और प्रचार में 1991 से लगा हुआ है। यह बहुत विचित्र लगता है किन्तु यही सच है कि उसके अधिकतर छात्र जमैकन हैं, न कि इन्डो-जमैकन, न ही इन्डियन-इन्डियन। हिन्दी सीखने के लिए जमैकन में दिनों-दिन रुचि बढ़ रही है क्योंकि वे अब हिन्दी का महत्व जानने लगे हैं। यह विडम्बना ही है कि भारतीय ही इसकी उपेक्षा करते हैं। खैर, वह दिन दूर नहीं जब इन्हें भी भान होगा।

- डॉ॰ सीताराम पोद्दार
5, गेरबेरा ड्राइव,
मोना हाइट्स, के जी एन-6,
जमैका, वैस्ट इंडीज़

लाख टके की मेरी बिंदिया

डा० मृदुला सिन्हा

बिंदिया को प्रदर्शित करता कांगड़ा शैली का चित्र

> "एक छोटी-सी बिंदी का अस्तित्व ही कितना है। मोल भी नहीं के बराबर। परंतु अनमोल है यह बिंदिया..."

पिछले दिनों कैलिफोर्निया (अमेरिका) में कार्यरत मेरी बेटी मीनाक्षी भारत आने लगी। उसने अपनी चाइनीज मित्र लू से पूछा – ''मैं भारत से तुम्हारे लिए क्या लाऊँ?''

प्रश्न सुनकर ही वह प्रसन्न हो गई। थोड़ा सोचने की भाव-भंगिमाएँ बनाईं। फिर तपाक से अपने ललाट के मध्य में अँगुली रखकर वह बोली – ''यह''। मेरी बेटी समझ गई। उसने पूछा – ''बिंदी?'' उसकी मित्र चहककर बोली, ''हाँ। वही।''

वह दोनों भौंहों के बीच लगाने वाली छोटी-सी, मगर असरदार और देखने वालों की नजरों की केंद्रबिंदु बननेवाली बिंदी का नाम नहीं जानती थी। मेरी बेटी भारत आकर लू के लिए ढेर सारी बिंदिया ले गई है। उसने यह भी बताया – ''अमेरिका स्थित इंडियन ग्रोसरी में बिंदिया मिलती

है। मगर भारत से खरीदी बिंदियों की बात ही कुछ और होगी।'' चाइनीज लड़की के ललाट पर चमकेगी भारत की बिंदिया। यह सोचकर ही मीनाक्षी प्रमुदित हो गई।

अमेरिका में ही एक बार एयरपोर्ट पर विमान का इंतजार करते हम बैठे थे। एक छोटी-सी अमेरिकी बालिका बार-बार अपने परिवार वालों से छिटककर हमारे पास आती और थोड़ी देर मेरे पास खड़ी रहकर फिर लौट जाती, फिर आती। उसका ध्यान मेरी बिंदी पर ही था। दो-चार बार मेरे सामने खड़े होने पर उसे मानो मेरे स्वभाव का अंदाज लग गया हो। मेरे अधिक नजदीक आकर वह मेरे ललाट पर लगी बिंदिया छूने लगी। मैंने अपने पर्स से निकाल कर उसकी ललाट पर लगा दी। वह दौड़कर अपने माता-पिता के पास गई। उसकी माँ ने आईना दिखा दिया। वह खुश हो गई। उसका गोरा-चिट्टा भोला-भाला मुखड़ा खिल उठा था। बिंदिया भी खिल गई थी। इस बात को महसूस कर उसके माता-पिता ने एक बार मुस्करा कर मुझे धन्यवाद दिया।

भारतीय स्त्रियों के ललाट पर सजी ये रंग-बिरंगी बिंदियाँ विदेशों में उनकी विशेष पहचान बनाती हैं। एक दशक से पूर्व की बात है। एक महिला प्रतिनिधिमंडल के साथ मैं जर्मनी गई थी। वहाँ के एक महिला वृद्धाश्रम में हम उनसे मिलने गए। वहाँ आठ-दस ही जर्मन वृद्ध महिलाएँ थीं, उनमें से एक ने मेरे ललाट पर सजी बिंदी को देखकर पूछा – ''यह क्या है?''

मेरे पर्स में कई बिंदियाँ थीं। मैंने उन सभी महिलाओं के ललाट पर एक-एक बिंदी चिपका दी। फिर उन्हें आईना दिखाया। वे अपना-अपना बदला हुआ रूप देखकर मुस्कराने लगीं। उनके चेहरे के भाव मानो कह रहे हों – ''हमने सारी जिंदगी ललाट का श्रृंगार किए बिना काट दी। काश ! हमने भी जवानी में अपने गोरे मुखड़े पर स्थित ललाट पर बिंदिया लगाई होती, तब हमारा रूप ही कुछ और होता।''

लेखिका एक पुलकित वृद्ध महिला के साथ जिसे उन्होंने बिंदिया की सौगात दी

एक छोटी-सी बिंदी का अस्तित्व ही कितना है। मोल भी नहीं के बराबर। परंतु अनमोल है यह बिंदिया, जो औरत के चेहरे का श्रृंगार बनती आई है। देखने वालों का मन प्रसन्न करती है।

भोजपुरी गीतों में बिंदिया का बड़ा रुतबा है, इसे भोजपुरी में 'टिकुली' कहते हैं, होली गीत की एक पंक्ति है –

''हम टिकुली से करब इंजोर।''

अर्थात् ''मैं अपनी टिकुली से ही उजाला कर दूँगी।'' उन दिनों रात के अँधेरे में ही घरवालों से छुपकर अपनी प्रियतमा (पत्नी) से मिलने का रिवाज था। गीत की इस पंक्ति में बिंदी लगाई स्त्री का आत्मविश्वास उजागर होता है। वह अपने प्रीतम को आश्वस्त करती है

कि वह अपनी टिकुली में जड़े नग के नन्हें टुकड़े से ही उजाला कर देगी। 'टिकुली' से निकली रोशनी प्रियतमा का मुखड़ा देखने के लिए यथेष्ट होगी। उसी रोशनी में वह प्रीतम का मुखड़ा भी देख लेगी। इस गीत में प्रगट भाव इसलिए भी विश्वसनीय लगता है कि उन दिनों शीशे और रत्न से जड़ित बिंदियाँ भी होती थीं। कोई स्त्री सारे अंगों के श्रृंगार हीरा-जवाहरात और सोने-चाँदी के जेवरों से कर ले, सिर्फ बिंदिया नहीं लगाए, फिर देखिए उसके श्रृंगार का सूनापन। उसके श्रृंगार को निरखती कोई न कोई महिला टोक देती है – ''और बिंदी?'' या फिर पूछेगी – ''क्या हुआ तुम्हें? उदास क्यों लग रही हो?'' वह मन से उदास नहीं है। श्रृंगार भी पूरा कर रखा है। सिर्फ छोटी सी बिंदिया की कमी है। इसी कारण उसका मुखमंडल उदास सा लगता है। सचमुच, बिंदिया के अभाव का प्रभाव बड़ा होता है।

समय के अनुसार बिंदिया के आकार-प्रकार, निर्माण की वस्तुएँ, ललाट पर लगाने की जगह आदि बदलती रहती है। छोटी हो या बड़ी, लाख, कागज, प्लास्टिक, शीशे की हो या हीरे-मोती की, बिंदियाँ तो बिंदियाँ हैं। चेहरा, सिर और गर्दन तक के श्रृंगार की जान है वह। अपनी बहू बेटियों के सिर में कंघी कर, कसी हुई दो चुटिया बांधकर फाड़ी हुई चौड़ी माँग में सिंदूर और ललाट पर एक बिंदिया लगाकर सास या माँ निरखती रह जाती थी। सभी श्रृंगार प्रसाधन को धारण करने के बाद ही बिंदिया लगाई जाती है। बिंदिया अंतिम और महत्वपूर्ण श्रृंगार है। श्रृंगार में हुई कमियों को वह भर देती है। उदास मन को भी चकमका देती है; इसकी अनुपस्थिति सारे श्रृंगार को फीका कर देती है।

कुँआरी कन्याओं द्वारा बिंदिया लगाने की परंपरा नहीं थी। विवाह के बाद सुहागनों के ललाट बिंदी से रिक्त नहीं रखने का रिवाज था। सातों रंगों में अलग-अलग रंग की बिंदिया होती रही है। मिले-जुले रंगों की भी बिंदियाँ मिलती हैं। बिंदियाँ तो सभी रंग की होती हैं। मगर लाल रंग के कहने ही क्या हैं? बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में सिंदूर से ही बिंदी लगाने की परंपरा रही है। महिलाओं में जबसे कपड़े और चूड़ियों के रंगों का मिलान करके पहनने का रिवाज हुआ, तब से बिंदियाँ बनाने वालों ने भी विभिन्न रंगों की बिंदियों की पत्तियाँ तैयार कर लीं। अब तो साड़ी और चूड़ी से रंग का मेल बैठाकर बिंदी लगाई जाने लगी है।

> **"यह छोटी सी बिंदिया अंगरक्षक भी है। यह बात मेरे ध्यान में आई, जब भरी जवानी में विधवा हुई दिल्ली की एक अत्याधुनिक महिला से मेरी भेंट हुई ..."**

बिंदी लगाने के स्थान, यानी दोनों भौंहों के बीच के स्थान का योग और प्राणायाम की दृष्टि से विशेष महत्व है। इस स्थान को योग की भाषा में 'आज्ञा-केंद्र' कहते हैं। टीका लगाने वाले पुरुष भी यहीं टीका लगाते हैं। यह केंद्र मन को शांत रखता है। यहीं शिव जी का त्रिनेत्र है – ऐसा माना जाता है। किसी भी व्यक्ति के शरीर में चेहरे पर अवस्थित इस स्थान का विशेष महत्व है। देखने वाले व्यक्ति की आँखें, आँखों पर ही टिकती हैं। मगर महिलाओं की आँखों के मध्य वाले स्थान पर लगी बिंदिया पर ध्यान टिकता है।

बिंदिया लगा लेने के बाद आत्मविश्वास बढ़ता है। सभी औरतें अपनी बिंदियों को अनमोल ही बताती हैं। एक लोकगीत की पंक्ति है –

''लाख टके की मेरी बिंदिया
ननदी नजरी लगावे।''

अपनी बिंदिया की प्रशंसा में नायिका उसका मोल भी लगा लेती है। लाख रुपए की बिंदी है। उन दिनों लाख रुपए रखनेवाले लोग समाज में इने-गिने होते थे। गीत गानेवाली उन महिलाओं ने तो अपने जीवन में लाख रुपए (टके) देखे भी नहीं होंगे। आगे देखने की उम्मीद नहीं होगी। मगर आम महिलाएँ भी अपनी बिंदिया को लाख टके की ही बताती थीं। उसी गीत की एक और पंक्ति है –

''सूरजमुख ना जइबो, ना जइबो हाय राम,
मोरा बिंदिया का रंग उड़ा जाए।''

सूरज की ओर मुख करके बैठना उचित नहीं माना जाता।

गोरा रंग श्यामला हो जाता है। मगर इस गीत की नायिका को अपने रंग के बदलने की चिंता नहीं है। वह कह रही है कि सूरज की तरफ मुख करके मैं नहीं जाऊँगी। मेरी बिंदिया का रंग उड़ जाएगा। अपने चेहरे से भी अधिक उसे बिंदिया के रंग की ही चिंता है।

और मुझे चिंता इस बात की है कि हमारी नई पीढ़ी की युवतियाँ बिंदिया लगाना कम कर रही हैं। फुलपैंट-शर्ट के साथ बिंदिया का मेल नहीं बैठता। अमेरिका के कुछ इलाकों में बिंदिया ही उनके भारत-विरोधी आंदोलन का निशाना बन गई थी। वहाँ बिंदिया को 'डॉट' कहते हैं। वहाँ के लोग किसी भारतीय महिला के माथे पर बिंदिया देखकर उसके मुँह पर थूक देते थे या उसे चपत मार देते थे। तब भारतीय स्त्रियों या संपूर्ण देशवासियों के अपमान का केंद्र बिंदिया हो गई थी। इसलिए उस क्षेत्र में भारतीय महिलाओं द्वारा फुलपैंट या जीन्स-टॉप पहनकर बिंदिया नहीं लगाने की बात तो समझ में आती थी, परंतु अपने देश में रहकर मात्र नए फैशन के आधार पर बिंदिया नहीं लगाने या बिंदिया न लगाकर अपने को अत्याधुनिक दिखाने की बात समझ में नहीं आती। प्रसन्नता की बात यह है कि ऐसी युवतियों और महिलाओं की संख्या समाज में कम है। और इसलिए आम भारतीय महिलाओं पर उनका प्रभाव भी कम है।

> **"बिंदिया तो बिंदिया है। यह चाहे किसी पदार्थ की बनी हो या किसी रंग की क्यों न हो। इसकी आकृति में भी पुनरावृत्ति होती रही है। छोटी हो या बड़ी, मात्र एक बिंदिया सभी श्रृंगारों की भरपाई कर देती है।"**

आम महिलाओं के लिए आज भी उनके श्रृंगार का विशेष महत्व बिंदिया ही है। सुहाग का चिह्न भी और श्रृंगार भी। इन दिनों प्लास्टिक की बिंदियाँ अधिक मिलती हैं। इसलिए कई महिलाओं को बिंदी लगाने के कारण निश्चित स्थान पर जख़्म हो जाता है। सिंथेटिक बिंदियों और सिंदूर से अधिक बीमारियाँ हो रही हैं। इसलिए कई ललाट बिंदियों से सूने दिखते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन चीजों से बिंदिया तैयार की जाए, जिनसे किसी बीमारी की आशंका न हो।

बिंदिया तो बिंदिया है। यह चाहे किसी पदार्थ की बनी हो या किसी रंग की क्यों न हो। इसकी आकृति में भी पुनरावृत्ति होती रही है। छोटी हो या बड़ी, मात्र एक बिंदिया सभी श्रृंगारों की भरपाई कर देती है। आजकल कामकाजी महिलाएँ कोई विशेष श्रृंगार नहीं करतीं। न काजल, न लिपस्टिक, न पाउडर, न सिंदूर। घर से दफ्तर के लिए भागते समय वह सिर्फ ललाट पर एक बिंदी साट लेती हैं, कभी-कभी शीशे पर चढ़ी पुरानी बिंदी ही। इतना ही श्रृंगार यथेष्ट होता है।

यह छोटी सी बिंदिया अंगरक्षक भी है। यह बात मेरे ध्यान में आई, जब भरी जवानी में विधवा हुई दिल्ली की एक अत्याधुनिक महिला से मेरी भेंट हुई। वह लाल चौड़े, लाल किनारे की साड़ी, लाल ब्लाउज और ललाट पर लाल बिंदिया लगाए हुए थी। उसने मुझे चौंकते हुए देखकर कहा - ''चौंको मत। यह बिंदिया मेरा सुरक्षा-कवच है। अपने पाँवों पर खड़े होने के लिए मुझे दफ्तरों और मंत्रालयों के चक्कर लगाने पड़ते हैं। मैं विधवा के वेश में रहूँगी, तो ये नारी-देह के भूखे दरिंदे मुझे ललचाई नज़र से देखेंगे। इसलिए मैं लाल बिंदिया लगाकर चलती हूँ। वैसे भी, पति को मेरा यही रूप पसंद था। उनकी स्मृति अपने साथ रखने के लिए यह बिंदिया आवश्यक है।''

समाज की परंपरा को धता बताने का साहस था उस महिला में मगर यह भी सच था कि उसने समाज को चकमा देने और पति की स्मृति अपने साथ रखने का माध्यम बिंदिया को बनाया। इस छोटी-सी बिंदिया की इतनी ही बड़ी औकात, तभी तो बिंदिया खरीदते समय अन्य श्रृंगार सामानों की खरीदारी की तुलना में भले ही न्यूनतम मूल्य चुकाना पड़ता हो, होती तो यह लाख टके की ही है। सभी श्रृंगार प्रसाधनों से ऊपर उठ कर बोलती है, हँसती है, खिलखिलाती है ये बिंदिया।

- मृदुला सिन्हा, पी.टी. 62/20,
कालकाजी, नई दिल्ली-19

कला पुरोधा मदन लाल नागर : एक अवलोकन

– अवधेश मिश्र

समकालीन कला की आधुनिक प्रवृत्तियों या इसके क्रमिक विकास या फिर परिवर्तनों पर चर्चा करें तो उन पुरोधाओं के व्यक्तित्व व कृतित्व का स्मरण करना होगा जो अपने समय में प्रवाहित हो रही धारा के विपरीत खड़े होकर न सिर्फ अपना अस्तित्व बचाए रखने में सफल रहे बल्कि धारा के रुख को मोड़ा भी। बीसवीं शती के मध्य के दशक में हो रहे बदलाव, परिवर्तित हो रही कला परिभाषा, आविष्कृत हो रही नयी-नयी प्रवृत्तियों को अस्तित्व में लाने में जिन विभूतियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया उनमें से उत्तर प्रदेश के मदन लाल नागर का नाम बड़े ही सम्मान से लिया जाता है जिन्होंने थोड़े ही समय में प्रादेशिक सीमा से निकल कर राष्ट्रीय परिदृश्य पर अपनी जगह बनायी।

“ मदन लाल आरम्भ से रचनाशील और दूरदृष्टा कलाकार थे जिन्होंने कलाजगत के भविष्य की दस्तक को महसूस कर लिया था और बड़ी मजबूती से उस राह पर निकल पड़े थे। ”

स्व. मदन लाल नागर

मदन लाल आरम्भ से रचनाशील और दूरदृष्टा कलाकार थे जिन्होंने कलाजगत के भविष्य की दस्तक को महसूस कर लिया था और बड़ी मजबूती से उस राह पर निकल पड़े थे। हालांकि इनके ‘कलाकार’ को विकसित करने में सबसे बड़ा योगदान इनके बड़े भाई अमृत लाल नागर और मझले भाई रतन लाल नागर का रहा जिनके माध्यम से मदन लाल मुम्बई के समकालीन कलाजगत से परिचित हो सके और एक नयी ऊर्जा से लखनऊ में अपने आप को स्थापित कर सके। मदन ने न सिर्फ लखनऊ को अपनी कर्मभूमि बनाया बल्कि अपनी रचनाओं में भी लखनऊ के वातावरण, घुमावदार तंग गलियों आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया। एक तरह से ‘ओल्ड सिटी’ नाम से लखनऊ का पोर्ट्रेट बनाया और इन विषयों पर बने चित्र ही मदन लाल को राष्ट्रीय परिदृश्य से जोड़ सके जिसका लाभ उत्तर प्रदेश के कलाजगत को मिला।

मदन लाल नागर का जन्म लखनऊ के कलाप्रेमी तथा रचनाशील परिवार में 5 जून 1923 को हुआ था। उनके बाबा बैंक में काम करने वाले ऑफिसर थे, फिर भी सितार बजाया करते थे। उनके पिता पंडित राजा राम नागर शैकिया चित्रकार और तबला वादक थे, वे कविताएं और नाटक लिखते तथा उनमें भाग लेते थे। बड़े भाई अमृत लाल नागर प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासकार और मझले भाई रतन लाल सिनेमेटोग्राफर थे। अपने पिता की शीघ्र मृत्यु (1935) के कारण उपजी आर्थिक समस्याओं के बावजूद अमृत लाल नागर ने अपने छोटे भाई को 1941 में लखनऊ के कला एवं शिल्प महाविद्यालय में दाखिल कराया। 1940 में नागर ने कालीचरण इण्टर कालेज से हाई स्कूल की परीक्षा पास की थी। अपने स्कूल के दिनों में भी वे कला अभिरुचि से परिपूर्ण थे और उनके कला बोध को देखते हुए कालीचरण इण्टर कालेज के कला अध्यापक नारायण दत्त जोशी ने उन्हें कला महाविद्यालय में प्रवेश लेने और इस क्षेत्र में कैरियर बनाने के लिए प्रेरित व प्रोत्साहित किया। जोशी स्वयं कला महाविद्यालय के पूर्व छात्र थे और नागर की क्षमता और प्रतिभा निखारने का सही मंच आर्ट्स कालेज को ही समझते थे।

उन दिनों कला महाविद्यालय के प्रधानाचार्य असित कुमार हल्दार वाश शैली में काम करते थे। वीरेश्वर सेन-जल रंग में छोटे आकार के प्राकृतिक दृश्य बनाते थे। ललित मोहन सेन कलाकार होने के साथ साहित्य प्रेमी थे और हर मीडियम तथा शैली में प्रयोग करने की उनकी प्रवृत्ति थी। उस समय हर कक्षा में दो या तीन विद्यार्थी हुआ करते थे। विश्वनाथ मुखर्जी

और बी.एन. जिज्जा उनके सहपाठी थे। मुखर्जी बाद में कला महाविद्यालय, दिल्ली में शिक्षक हो गए तथा उसी महाविद्यालय के प्रधानाचार्य के रूप में अवकाश प्राप्त किया।

जब मदन लाल कला-विद्यार्थी थे, उस समय कला-सिद्धान्त की पढ़ाई नहीं होती थी, केवल प्रायोगिक कार्य कराये जाते थे और चित्रकारी पारंपरिक ढर्रे पर चल रही थी। जल रंग तथा वाश माध्यम द्वारा रचनात्मक कार्य करने की प्यास मदन को हमेशा परेशान करती थी, वह अपने मन के अंतर्द्वन्द्व से हमेशा परेशान रहते थे। अत: स्केचिंग और चित्रों की ड्रॉइंग किया करते थे। वे ललित मोहन सेन से बहुत अधिक प्रभावित थे, जो हमेशा ही मॉडल तथा स्मृति से, दोनों तरह से लगातार स्कैचिंग पर बल देते थे। वे कहते थे कि ड्राइंग/स्केच ही चित्रों का आधार होता है क्योंकि जब रंग नष्ट हो जाते हैं, तब भी ड्राइंग बनी रहती है। मदन लाल नागर ने इसे महत्वपूर्ण वाक्य की तरह अपने जीवन में उतार लिया। अत: कहीं भी जाएं, अपरिचित या जानी पहचानी या प्राय: न ध्यान देने वाली चीजों जैसे कुत्ते, चिड़िया, बाजारों के अन्य आकर्षित करने वाले तत्व, गांव के मेलों में घूमते हुए कुछ विशेष मिल गया तो, हमेशा सभी के प्रति जागरूक रहते थे और वे लगातार अपना ध्यान स्कैचिंग में केन्द्रित रखते थे।

प्रारंभिक स्केचेज़ अधिकांशत: पेन व पेन्सिल में हैं, लेकिन बोल्ड तथा निश्चित लाइनों के साथ बनी आकृति में कलाकार की दृष्टि व उसकी पकड़ स्पष्टत: देखी जा सकती है।

1946 में ललित कला में अपना डिप्लोमा पूरा करके मदन ने एक विशिष्ट शैली में चित्रकारी करना शुरू किया तथा फ्रीलान्सर के रूप में लैण्डस्केप और पोर्ट्रेट बनाये। मदन लाल की कला के तत्वों की समझ और सौन्दर्यबोध उनकी अपनी पहचान के साथ लगातार विकसित होती रही है। इसलिए आरम्भ से ही उनके संयोजन तथा प्रकृति चित्र उनके अपने ही मित्रों से पूर्णत: भिन्न थे। खुले आकाश, विशाल भूखण्ड, खेतों में छोटे-छोटे रास्ते तथा डेप्थ और पर्सपेक्टिव का सुंदर अंकन संयोजन में दिखता है। आकाश अधिकतर इतराते, उमड़ते-घुमड़ते बादलों के विशाल दृश्यों, घने जंगलों से युक्त फैले हुए पर्वतों से घिरा हुआ होता है। उदाहरण के रूप में देखें तो प्रकृति दृश्य - 'बैजनाथ' (1946) में ग्वाश और टेम्परा का ठोसपन तथा इम्पेस्टो का प्रभाव विद्यमान है। इस प्रभाव को उन्होंने एल.एम. सेन से ग्रहण किया क्योंकि लखनऊ के अधिकांश कलाकार जल रंगों में लैण्डस्केप पेंट करते थे। यही विशेषता उनके पोर्ट्रेट्स में भी देखी जा सकती है। गाढ़े तैल रंग और सघन बोल्ड स्ट्रोक्स से भारीपन का प्रभाव उत्पन्न किया गया है। गवाश मीडियम के साथ जल से चित्रकारी को उन्होंने सबसे अधिक महत्व दिया। नागर के इस चित्रण काल में सामाजिक-राजनैतिक वातावरण में अस्थिरता थी और कला-जगत में भी एक सक्रिय समूह बनाकर राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी कला के प्रदर्शन और एक सशक्त उपस्थिति की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। मदन लाल भी इस वातावरण से प्रभावित हो रहे थे और लखनऊ से बाहर जाकर कला जगत की स्थिति से परिचित होना चाहते थे, विनिमय करना चाहते थे। जिसके लिए लखनऊ छोड़कर किसी ऐसी जगह जाना चाहते थे जहाँ कुछ विशेष व नया सीखने को मिले। एक पुराने ढर्रे

"वे ललित मोहन सेन से बहुत अधिक प्रभावित थे, जो हमेशा ही मॉडल तथा स्मृति से, दोनों तरह से लगातार स्कैचिंग पर बल देते थे। वे कहते थे कि ड्राइंग/स्केच ही चित्रों का आधार होता है क्योंकि जब रंग नष्ट हो जाते हैं, तब भी ड्राइंग बनी रहती है। मदन लाल नागर ने इसे महत्वपूर्ण वाक्य की तरह अपने जीवन में उतार लिया। अत: कहीं भी जाएं, अपरिचित या जानी पहचानी या प्राय: न ध्यान देने वाली चीजों जैसे कुत्ते, चिड़ियां, बाजारों के अन्य आकर्षित करने वाले तत्व, गांव के मेलों में घूमते हुए कुछ विशेष मिल गया तो, हमेशा सभी के प्रति जागरूक रहते थे और वे लगातार अपना ध्यान स्कैचिंग में केन्द्रित रखते थे।"

से अलग सोचने का वातावरण मिल सके।

मदन लाल अपनी रचना/परिकल्पना को और अधिक समृद्ध करने के लिए मुम्बई गये। जहाँ एफ.एन.सूज़ा, मकबूल फिदा हुसैन, के.एच.आरा, वी.एस. गायतोंडे, एन.एस. बेन्द्रे आदि समकालीन कलाकारों के व्यक्तित्व और रचना प्रक्रिया से भली-भाँति परिचित हो वहाँ रह कर काफी काम किया और इस नयी ऊर्जा के साथ लखनऊ के कलाजगत को भी संगठित करना चाहा। मुम्बई में नागर को आगे बढ़ने के लिए काफी प्रोत्साहन भी मिला। उनके कुछ कार्यों को 'द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' में छापा गया। 1947 में बाम्बे आर्ट सोसाइटी की प्रदर्शनी में उन्होंने अपनी छः कलाकृतियों को जमा किया जिनमें से पाँच को चुना गया था। यह उस समय उनके प्रोत्साहन के लिए बहुत महत्व रखता था।

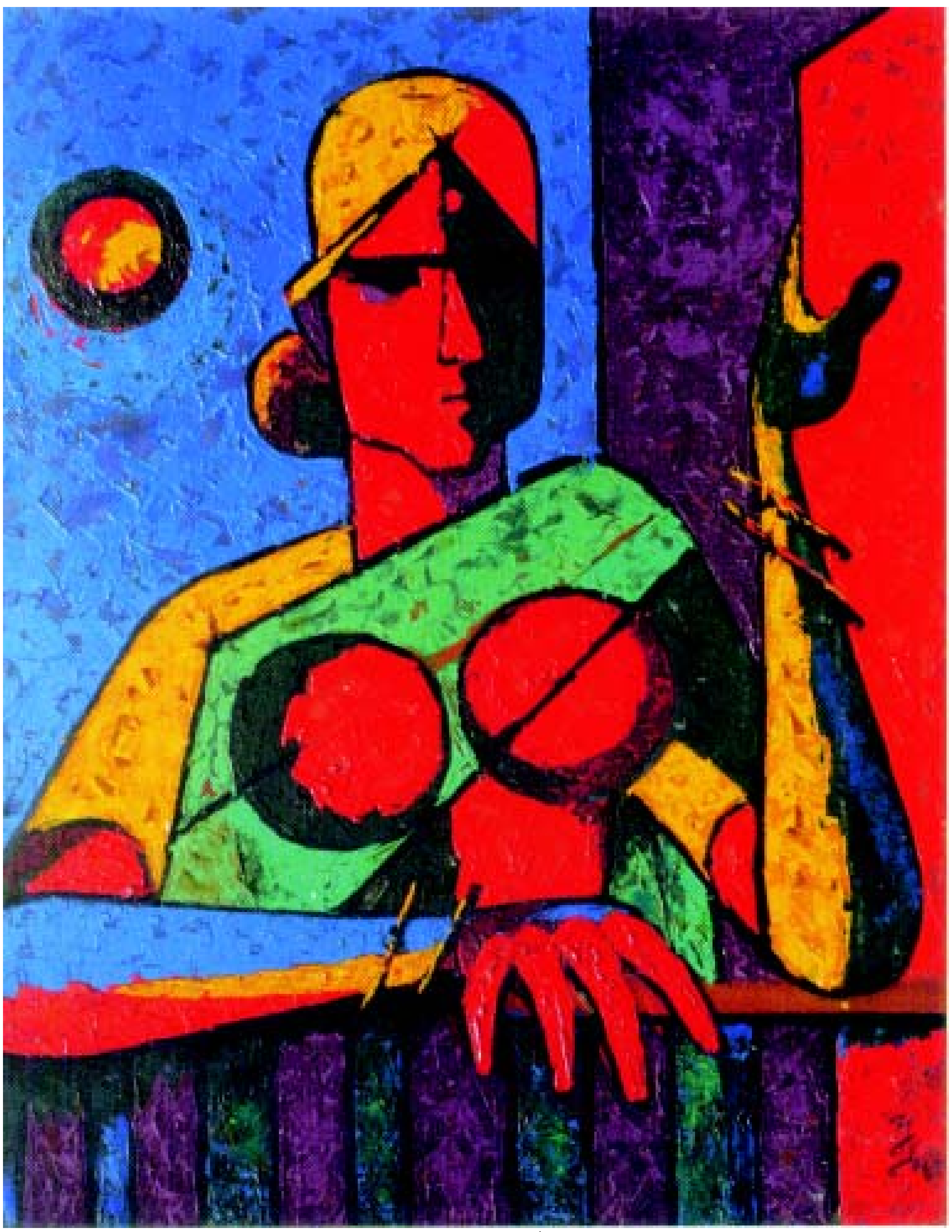

प्रतीक्षा, **75×60** से.मी., तैल, **1962**

मुम्बई प्रवास के दौरान सबसे अच्छी बात यह थी कि नागर को प्रोग्रेसिव मास्टर्स के कार्यों को देखने का अवसर मिला कि किस प्रकार से जटिल व असंख्य रूपों को अपनी कला की भाषा में सहजता से उच्चारित किया जा सकता है, किस प्रकार से रंग कलाकारों की भावनाओं तथा उनके विचारों को प्रस्तुत कर सकते हैं तथा किस प्रकार पिक्टोरियल स्पेस को कलात्मक भावों की आवश्यकताओं के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस प्रभाव को आत्मसात करने के बाद उनकी दृष्टि विस्तृत हो गयी और इस नई स्फूर्ति व ऊर्जा को अपनी रचना के नए मुहावरे के गढ़ने में प्रयोग किया।

1949 में जब वह मुम्बई से वापस आये तो उत्तर प्रदेश सूचना विभाग ने ब्रज प्रदेश के जीवन तथा संस्कृति पर एक फोल्डर बनाने का कार्य दिया। यह कार्य उन्होंने बोल्ड फार्म्स, रिद्मिक लाइन्स और लैण्डस्केप के साथ प्रभावी ढंग से जल रंगों में किया।

मुम्बई के जीवन्त कला वातावरण के प्रति प्रोत्साहित होकर, नागर ने उसी के अनुरूप लखनऊ में एक कला वातावरण बनाने की इच्छा जतायी। सभी विधाओं के बुद्धिजीवियों

को एक मंच पर लाने का प्रयास किया। कला-साहित्य के सम्मिलित आयोजन प्रारंभ किये गये। समाज के अन्य वर्गों को कला से जोड़ने के लिए विश्वविद्यालय के छात्र संघ भवन को गतिविधियों का केंद्र बनाया। वैचारिक स्तर पर एकमत लोगों को साथ लेकर सन् 1936 में स्थापित 'उत्तर प्रदेश कलाकार संघ' को वे एक सक्रिय संगठन बनाने में जुट गये। अनेक गतिविधियां आयोजित कीं। भारत की समकालीन कला से जुड़े अनेक कलाकारों को इससे जोड़कर इसको एक महत्वपूर्ण संगठन के रूप में स्थापित किया (मदनलाल नागर उ.प्र. आर्टिस्ट एसोसिएशन के संस्थापक सदस्यों में एक थे)। और इसकी प्रदर्शनियों में भाग लिया। यह संगठन असित कुमार हल्दार, बीरेश्वर सेन, जे.एन. सिंह, आर.सी. साथी, पन्ना लाल, लक्ष्मीचन्द तथा उस समय के अनेक कलाकारों द्वारा स्थापित किया गया था। उनका मुख्य उद्देश्य प्रोग्रेसिव आर्ट की दिशा में अपनी कला का विकास करना तथा न केवल लखनऊ बल्कि पूरे उत्तर प्रदेश में कलात्मक वातावरण उत्पन्न करना और राष्ट्रीय स्तर पर प्रदेश को जोड़ना था।

सदी के पूर्वार्द्ध की महत्वपूर्ण कला गतिविधियों में उल्लेखनीय अप्रैल 1949 में नगर महापालिका में आयोजित प्रदर्शनी के क्यूरेटर भी मदनलाल नागर ही थे। इस प्रयास से त्रिलोकी नाथ हॉल (महानगर पालिका, लखनऊ) में भारत के प्रमुख कलाकारों की प्रदर्शनी आयोजित की जा सकी। उसके प्रतिभागी थे - एल.एम. सेन, बीरेश्वर सेन, क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार, रणदा उकील, पुरंजय बनर्जी, ईश्वर दास, बी.एन. जिज्जा, पी.आर. रॉय आदि। भैरो दत्त सनवाल जो कि उस समय लखनऊ नगर महापालिका के एडमिनिस्ट्रेटर थे, उन्होंने अपनी पूरी रुचि के साथ 'म्युनिसिपल आर्ट गैलरी' की शुरुआत कराई थी। इस प्रदर्शनी और संग्रह के लिए यह नीति बनाई थी कि जिस भी कलाकार की कलाकृति खरीदी जायेगी, उसे अपनी एक कृति के साथ एक भेंट करनी होगी। सनवाल की रुचि तथा मदन लाल नागर के समर्पण के कारण स्थायी संग्रह तथा प्रदर्शनी के लिए 92 कृतियां एकत्र हुईं। नागर को गैलरी का संग्रहालयाध्यक्ष बनाने के साथ-साथ कलाध्यापकों को अपडेट रखने के लिए रिफ्रेशर कोर्स के संचालन हेतु अध्यापन का दायित्व भी सौंपा गया जिसे नागर ने पूरी एकाग्रता तथा समर्पण के साथ निभाया। लेकिन सनवाल के स्थानान्तरण के बाद, नागर के गैलरी के प्रति सरोकार के लिए प्रशासन की उदासीनता ने भ्रम दूर कर दिया, इसलिये उन्होंने अपने कलात्मक सृजन तथा प्रयोग की ओर उन्मुख होते हुए 1953 में इसे छोड़ दिया।

बम्बई से लौटने के उपरान्त लगभग सातवें दशक के

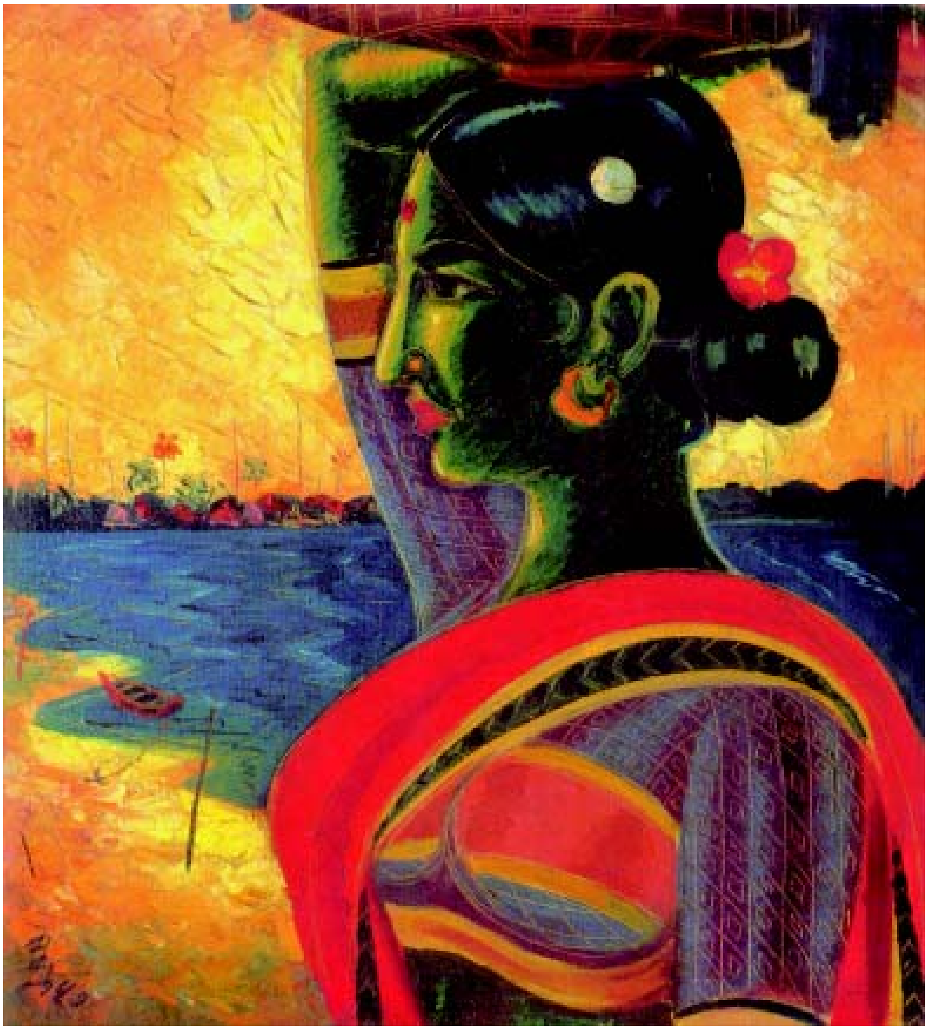

मदन लाल नागर की एक कृति

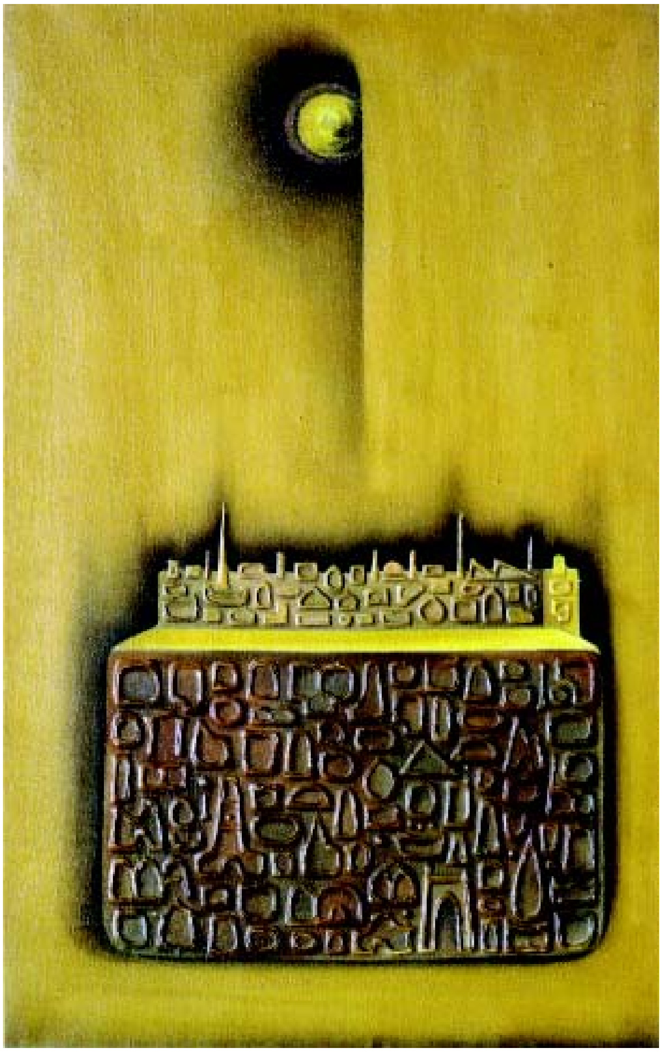

मेरा शहर, **75×55** से.मी., तैल, **1981-82**

शुरुआती वर्षों तक उन्होंने लगातार स्केच, ड्राइंग और पेन्टिंग की, सभी तकनीकों, विधियों तथा माध्यमों में प्रयोग किया, जिसे उन्होंने अभी तक देखा, जाना और महसूस किया था। कुछ कलाकृतियों में आकारों तथा डिजाइन में ठोसपन और सुगमता है, कुछ में हम उत्तर प्रभाववादी कलाकार वान गॉग की कृतियों के समान ऊपर चढ़ते अग्रभूमि और कम होते क्षितिज को देखते हैं, कुछ संयोजन वक्राकार लाइनों तथा बिन्दुओं के द्वारा बनाये गये हैं। उनकी अधिकांश महत्वपूर्ण कृतियाँ साठ के दशक में रची गईं- 'गुलमोहर' (1947), 'बोट्स' (1952), 'ए किंग ऑफ हिज़् ट्रैज़र' (1954), 'फारमर इन द फील्ड' (1955), 'पोर्ट्रेट ऑफ सम फैमिली मेम्बर' (1956), 'पोर्ट्रेट' (1957), 'लैंडस्केप' (1958) को चमकदार रंगों-पीला, नारंगी, चमकीला हरा तथा नीला बोल्ड ब्रश स्ट्रोक्स तथा पैचेज़् के साथ रचा गया है। नागर के द्वारा प्रयोग किये गये इन चित्रों में रंग तथा स्ट्रोक्स वॉन गाग से प्रभावित दिखते हैं जिसमें बोल्ड तथा चमकदार स्ट्रोक्स पिक्टोरियल सरफेस पर लगाए गये हैं। सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण 'किंग ऑफ हिज़् ट्रेज़र' (1954) तथा 'द फारमर इन द फील्ड' (1955) है। इन कृतियों का मुख्य रंग चमकदार क्रोम यलो, क्रोम आरेंज, सफेद तथा हल्का हरा है। रंग स्पैचुला के साथ बोल्ड पैचेज में प्रयुक्त किये गये हैं। 'द फारमर इन द फील्ड' (1955) संयोजन और रंग व्यवहार वान गॉग के 'सॉवर' (1888) के काफी निकट है।

सत्तर के दशक के आरंभ में 'विद्रोही' (1961), 'आकांक्षा' (1961), 'प्रतीक्षा' (1962), 'सिम्पैथी' (1962) तथा 'इंतजार' (1963), 'काशी' (1963) आदि आधुनिक सोच की परिपक्व तथा रचनात्मक कृतियाँ हैं। ये सभी ड्रॉइंग, पेन्टिंग्स तथा विभिन्न माध्यमों (मीडियम्स) के साथ निरंतर विचारपूर्ण अभ्यास का परिणाम हैं। थीम, रंग योजना, संयोजन का ले आउट तथा शैली सभी प्रतीकात्मक, भाव युक्त तथा प्रभावों से दूर हैं। विरोधी, गाढ़े तथा चमकीले रंग मानवीय भावनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त करते हैं, इसलिए यहाँ बड़े-बड़े बोल्ड पैचेज़् का प्रयोग है। 'सिम्पैथी' (1962) बिल्कुल संयोजित, सुलझा तथा पूर्णरूपेण प्रतीकात्मक कार्य है। बहुत अधिक चटकी हुई पृथ्वी, जलता हुआ आकाश, सूखे हुए वृक्ष, उन पर बरसती आग की चिन्गारियाँ तथा एक ओर बादल से ढका हुआ संयोजन बनाया है। छोटी सी तथा अकेली बूँद इस पूरे संयोजन का केन्द्र बिन्दु है, जो कठोर परिस्थिति के साथ सहानुभूति स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। इस दौरान नागर एक रास्ते तथा पहचान की लगातार खोज में थे। वह सभी म्यूज़ियम प्रदर्शनियों में घूमा करते थे तथा पत्र/पत्रिकाएँ व पुस्तकें पढ़ा करते थे। इसके साथ ही नागर कला सम्बन्धी चर्चा के लिए लोगों से मिलना-जुलना पसन्द करते थे।

1956 में कला एवं शिल्प महाविद्यालय, लखनऊ के ललित कला विभाग में बतौर शिक्षक उन्होंने नौकरी ज्वाइन की। यहाँ अपने दायित्व निर्वहन के लिए यद्यपि कलात्मक भाव की अपनी भाषा स्थापित करने की उन्होंने लगातार कड़ी मेहनत की। लेकिन इसी के समानान्तर उन्हें धन कमाने के लिए किताबों के कवर, ले-आउट तथा बुक जैकेट्स को डिज़ाइन करना पड़ा। उन्होंने अमृत लाल नागर, उनके मित्र हरिवंशराय बच्चन, सुमित्रानन्दन

गुलमोहर, **50×47** से.मी., तैल, **1947**

पतले करके इस्तेमाल हुए हैं। इसमें लखनऊ के आर्किटेक्चर की प्राचीनता और भव्यता का पुट देखा जा सकता है।

उनकी अन्य महत्वपूर्ण कृति 1964 में 'काशी' (200 सेमी. x 100 सेमी.) है। 1965-1975 के बीच पेन्ट किए गए कुछ 'सिटी स्केप' सिटी प्लान स्टाइल में हैं जैसे-सिटी I, II, III और IV या सिटी इन्टीरियर आदि। गोलाकार सड़कों तथा वक्राकार लाइनों के संयोजनों के इन डिज़ाइनों में न्यूनाधिक भिन्नता के साथ फैले छोटे चौकोर, आयताकार, अंडाकार तथा गोलाकार इमारतों का आभास है। उनके बीच में कुछ महत्वपूर्ण जाने-पहचाने चिह्न-गोलाकार दरवाज़े, मस्जिदें तथा मंदिर ऐलिवेशन में साफ-साफ देखे जा सकते हैं। ये सभी गहरे पेन्ट में बनायी गयी है, अधिकतर धूसर यलो ऑकर, ग्रे, वाइट, वरमीलियन या ग्रीन कलर्स। शुरुआत में ये संयोजन डिज़ाइन जैसे ही थे, लेकिन धीरे-धीरे शहर की इमेजेज़ स्मृति में आती गईं। 'अ काइंडलीनेस ऑफ द हार्ट' में मोहल्लों के संकरेपन को, पुरानेपन को दोहराई जा रही धुन के रूप में संयोजित किया गया है, ये हमारे संवेगों के साथ भावों को भी उत्तेजित करते हैं। कुछ संयोजनों को और अधिक जीवन्त बनाने के लिए चमचमाते और आकर्षण पैदा करते टेक्स्चर्स से भर दिया गया है, इसके उदाहरण हैं-'सताया शहर' (1966), 'सिटी III' (1969), 'वातायन' (1969), 'एन ओल्ड सिटी' (1969), 'झरोखा' (1970), 'सिटी इन्टीरियर' (1970), 'ओल्ड सिटी' (1971), 'द सिटी-II' (1963) आदि।

पन्त तथा निराला के उपन्यासों के कवर बनाये। 1956 में अमृत लाल ने अपने नये उपन्यास 'बूँद और समुद्र' के कवर बनाने के लिए मदन लाल से कहा। यह उपन्यास पुराने लखनऊ के चौक में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार के जीवन, धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन तथा सामाजिक उथल-पुथल पर आधारित है। उनसे कहा गया कि 'चौक की आत्मा' इस कवर में निकलकर बाहर आ जानी चाहिए। चूँकि उस समय उन्होंने उस स्थान की इमेजेज़ को बनाना व पेन्ट करना शुरू किया था जहाँ वह बचपन में रहते थे तथा जिसकी यादें उनकी स्मृति में समायी थी, इसलिए इस कार्य में उन्हें आसानी हुई।

1963 में 'ऐन ओल्ड सिटी' में उनकी व्यक्तिगत शैली तथा उनके कार्यों में सिटी स्केप्स की पहली झलक दिखायी देती है। अपनी प्रारंभिक शैली से भिन्न, स्मूथ टेक्स्चर है, रंग

सिटीस्केप्स की दूसरी श्रेणी लखनऊ के पुराने शहर की भूलभुलैया की पतली-सँकरी गलियों तथा दीवारों की है। अब नागर

CMYK # 79

की चित्रण शैली में गहन सोच तथा लगातार किए जा रहे स्केचिंग के साथ परिवर्तित होने लगे। उन्होंने गलियों तथा मोहल्लों में टहलना शुरू कर दिया। उनके कलात्मक भविष्य की शुरुआत के साथ ही उनकी कला में एक विचारधारा देखते हैं। सन् 1975 के आस-पास के संयोजनों में वाइट, ग्रे तथा ब्लैक का भरपूर प्रयोग अधिकांश चित्रों में देखने को मिलता है, जिसमें घूमती हुई गलियाँ, खुली खिड़कियाँ व ताखे व अलंकृत दरवाजे हमारा स्वागत करने को तैयार रहते हैं। ये बाद में सुलझे हुए तथा स्पष्ट संयोजनों जैसे- 'द सिटी' (1975), 'लेन्स' (1976), 'गणेश गली' (1976), 'सिटी गेट' (1977), 'लेन्स इन ओल्ड सिटी' (1977), 'सिटी लेन्स' (1979), 'सिटी स्केप' (1979), 'ओल्ड सिटी' (1980) आदि के रूप में विकसित हुए। 'गणेश गली' चित्र फिर से पुराने लखनऊ शहर के सांस्कृतिक वातावरण को व्याख्यायित करता है।

ये संयोजन आगे चलकर और अधिक घुमावदार तथा मोड़वाली आकृतियों में विकसित हुए। बजाय स्पष्ट गलियों के वे और अधिक रहस्यमयी हो गये। रंग और अधिक चमकदार गाढ़े, भयानक तथा विचित्र से प्रभाव वाले होते गए। उनके बीच में चिकने सिलिन्ड्रिकल, बहुत सारे रंगों के कॉलम हैं।

1980 से इन रहस्यमयी गलियों ने फटे, भयानक तथा दुखी मानव चेहरों का रूप लेना शुरू कर दिया। गलियाँ और अधिक गहरी पेचीदा व सर्पाकार हो गईं जो मानव चेहरे की संरचना में परिवर्तित होने लगीं। भयानक भीड़, संकरापन, मशीनीकरण, प्रदूषण, औद्योगिक दुष्प्रभाव, अमानवीय रहन-सहन की परिस्थितियों ने इस समय भारत के बहुत से कलाकारों को आहत, उत्प्रेरित व प्रभावित किया था और लोगों ने इस पर खुलकर चित्रण किया है। शायद इसी तरह नागर को भी यह पीड़ा पहुँची और ऐसे चित्र रचे गए। इस समय के उल्लेखनीय चित्र - 'सिटी स्केप' (1980), 'लेन्स' (1980), 'आले में गणेश' (1981), 'मेरा शहर' (1981-82), 'सिटी स्केप' (1981) आदि हैं।

नवम्बर 1981 में, उन्होंने मुम्बई की जहाँगीर आर्ट गैलरी में 1976 से 1981 तक की कलाकृतियों की प्रदर्शनी लगायी। उनके भावों की मौलिकता शिल्प, रचनात्मकता और विषयगत दृष्टि की वरिष्ठ कलाकार बेन्द्रे, आरा तथा अन्य कलाकारों ने प्रशंसा की जिससे उनका आत्मबल व रचनात्मकता और भी प्रबल होती गई और नागर नए-नए प्रयोग करते हुए हजारों की संख्या में पेंटिंग और ड्राइंग बनाते और प्रयोग करते गये।

मदन लाल की कलाजगत में इस ऊँचाई की पृष्ठभूमि में जाएँ तो उनके परिवार का रचनात्मक वातावरण जिसमें बाबा, पिता और भाई अमृत लाल व रतन लाल के अतिरिक्त पत्नी कृष्णा का सहयोग व प्रेरणा रही है। उनकी पत्नी ने भी उन्हें चित्रण और लेखन में भरपूर सहयोग दिया। अवसाद के समय - जब उनके चित्र बाढ़ में क्षतिग्रस्त हो गए थे - उन्हें मनोबल देती रहीं और फिर से उसी जोश से चित्रण के लिए प्रेरित करती रहीं। वे उन्हें समझाती थीं कि अपने अंदर ईश्वर की शक्ति को पहचानो, बीते कल को भूलकर वर्तमान की चिन्ता करो। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही नागर इतनी संख्या में कार्य कर सके। मदन लाल नागर का विवाह उनकी अपनी शिष्या कृष्णा से 13 मई 1960 को हुआ था। एक सुखद, स्वस्थ और कलात्मक वातावरण के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए 27 अक्टूबर 1984 को मदन लाल नागर और 1 अप्रैल 2003 को श्रीमती कृष्णा नागर का देहान्त हो गया।

आज भी काफी संख्या में नागर की कृतियाँ उनके परिवारजनों के पास निजी संग्रह में हैं। इसके अतिरिक्त देश-विदेश के महत्वपूर्ण संग्रहालयों/संस्थाओं/अकादमियों में संग्रहीत हैं, जिनका आधुनिक/समकालीन कला के आदर्श उदाहरण के रूप में अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है।

“ आज भी काफी संख्या में नागर की कृतियाँ उनके परिवारजनों के पास निजी संग्रह में हैं। इसके अतिरिक्त देश-विदेश के महत्वपूर्ण संग्रहालयों/संस्थाओं/अकादमियों में संग्रहीत हैं, जिनका आधुनिक/समकालीन कला के आदर्श उदाहरण के रूप में अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। ”

- डा॰ अवधेश मिश्र
कलाकार/सम्पादक : कला दीर्घा
सी-361, राजाजीपुरम्, लखनऊ-226017
मो.- +91 94150 22724

- डा० सुधा गोपालाकृष्णान

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन 1 अक्टूबर, 2006 से 7 जनवरी, 2007 तक फ्रैंकफर्ट पुस्तक मेला कार्यक्रम की कड़ी के रूप में फ्रैंकफर्ट के अनुप्रयुक्त कला संग्रहालय में ''शब्द पावन है; पावनता ही शब्द है'' नाम से भारतीय पाण्डुलिपियों की प्रदर्शनी आयोजित कर रहा है।

भारत में संभवत:, पाण्डुलिपियों का विश्व का प्राचीनतम तथा विशालतम संग्रह है। ऐसा अनुमान है कि यहाँ लगभग पचास लाख पाण्डुलिपियाँ हैं। हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि भारत के पास पाण्डुलिपि संपदा का विशालतम भंडार है। भारत की विपुल पाण्डुलिपि संपदा की खोज, प्रलेखन, संरक्षण और प्रसार के उद्देश्य से पर्यटन एवं संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार ने वर्ष 2003 में राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन की स्थापना की। अपने राष्ट्रव्यापी संपर्क कार्य और प्रलेखन प्रयास के माध्यम से यह मिशन प्राचीन भारत की ज्ञान संस्कृति के संरक्षण और इसे प्राप्य बनाने के कार्य में संलग्न है। दूसरे शब्दों में, यह मिशन प्राचीनकाल के विचार, दर्शन और ज्ञान को भविष्य के लिए उपयोगी बनाना चाहता है।

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन ने इस वर्ष के फ्रैंकफर्ट पुस्तक मेलों के एक संबद्ध कार्यक्रम के रूप में फ्रैंकफर्ट, जर्मनी के अनुप्रयुक्त कला संग्रहालय में ''शब्द पावन है; पावनता ही शब्द है'' नाम से भारतीय पाण्डुलिपियों की प्रदर्शनी आयोजित की है। विश्व में कहीं भी आयोजित होने वाली यह अपने तरह की प्रथम प्रदर्शनी है। यह प्रदर्शनी पूर्ण रूप से भारत की शब्दबद्ध संपदा को समर्पित है।

यह प्रदर्शनी संपूर्ण भारत की उत्कृष्ट पाण्डुलिपियों को एक स्थल पर लाने का कार्य करती है, इस प्रकार यह भारत की पाण्डुलिपि परंपरा के विविध पहलुओं को प्रस्तुत करती है। यह पाठों, चित्रों, प्रक्रियाओं और संस्कृतियों से होकर गुजरने वाली एक दृश्य यात्रा है; इन माध्यमों ने सदियों तक भारत के लिपिबद्ध 'शब्दों' को वहन किया है। पूरे देश में लिपिबद्ध शब्दों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, चाहे यह माजुली द्वीप में मूर्ति पूजा के स्थान पर पाण्डुलिपि पूजा के रूप में हो अथवा एक बच्चे के हाथ से भूमि पर पुस्तक गिरने पर उसे सहज रूप से उठा कर अपने सिर से सटा लेने के रूप में हो,

फ्रैंकफर्ट प्रदर्शनी के अवसर पर पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी (दाँये से दूसरी), संस्कृति मंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री के. जयकुमार (दाँये से पहले) तथा राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की निदेशक डॉ सुधा गोपालाकृष्णन (दाँये से चतुर्थ) वहां के संग्रहालय के निदेशक (बाँये से प्रथम) के साथ।

"भारत में संभवत:, पाण्डुलिपियों का विश्व का प्राचीनतम तथा विशालतम संग्रह है। ऐसा अनुमान है कि यहाँ लगभग पचास लाख पाण्डुलिपियाँ हैं। हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि भारत के पास पाण्डुलिपि संपदा का विशालतम भंडार है।"

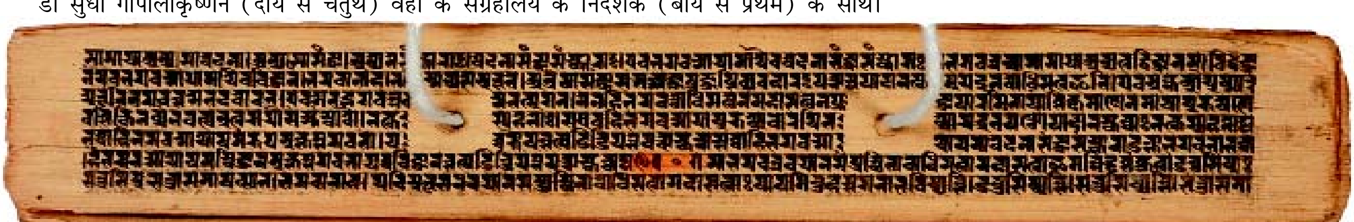

लिपिबद्ध शब्द भारत की सांस्कृतिक धरोहर के केंद्र में रहे हैं। भारत में पाण्डुलिपि निर्माण और उत्कृष्ट सुलेखन, चित्रण तथा आरेखन की परंपरा में विभिन्न प्रकार की लिपियों, भाषाओं और सामग्रियों का प्रयोग हुआ है। ये, एक साथ, भारत में शब्द रचना, संरक्षण और सच्चे अर्थों में 'शब्द' के प्रति श्रद्धा को व्यक्त करते हैं। अतएव, इस प्रदर्शनी का नाम 'शब्द पावन है; पावनता ही शब्द है'' रखना समीचीन है। इस प्रदर्शनी में जिन पाण्डुलिपियों को प्रदर्शित किया गया है उनमें कला, चिकित्सा, धर्मशास्त्र, दर्शन, गणित, इतिहास, फलित-ज्योतिष, साहित्य तथा प्राचीन धर्मग्रंथों के पाठ हैं। इस उप महादेश की संस्कृति को गढ़ने में युगों तक जिन विविध संस्कृतियों ने योगदान दिया है उनको ध्यान में रखते हुए भारत की विभिन्न धार्मिक परंपराओं से संबंधित पाण्डुलिपियों का प्रदर्शन किया गया है। इसमें पाण्डुलिपि निर्माण में प्रयुक्त वर्त्तिका, दवात, कागज़-चाकू, कुतुबनुमा और अन्य सामग्रियों का भी प्रदर्शन किया गया है। वस्तुत: यह प्रदर्शनी, दर्शकों के समक्ष इस देश की पाण्डुलिपि धरोहर की एक छोटी-सी दुनिया प्रस्तुत करती है। पन्द्रह से अधिक पाण्डुलिपि संग्रहालयों और निजी संग्रहालयों से प्राप्त नब्बे से अधिक सामग्रियों का प्रदर्शन करने वाली यह प्रदर्शनी सच्चे अर्थों में भारत की विभिन्न पाण्डुलिपि परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं -- ताड़पत्र से कागज तक, गज चिकित्सा विज्ञान से रूमानी गाथाओं तक, ईस्वी पूर्व दूसरी सदी की ब्राह्मी लिपि से 15वीं सदी की आद्य मैती लिपि (मणिपुर) और अधुनातन देवनागरी तक; गीत गोविन्द के मालाकार पाण्डुलिपि से यंत्रयुक्त अकाडियन आकार की पाण्डुलिपि तक और सरलतम पाण्डुलिपियों से लेकर ताड़पत्र पर अंकित उत्कृष्ट चित्रात्मक पाण्डुलिपियों तथा कागज पर खूबसूरती से मुद्रित पाठों तक को प्रदर्शित करने वाली यह प्रदर्शनी भारत की लेखन परंपरा के सभी आयामों को उद्भासित करती है। इसके साथ ही यह प्रदर्शनी पाण्डुलिपि निर्माण तथा लिखने की कला सीखने में विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त औजारों तथा उपकरणों को भी प्रदर्शित करती है। ईंट जैसे लाल, ताम्र, हल्दी और फारसी नीले जैसे सघन रंगों से युक्त प्रदर्शन पेटियों एवं भित्तियों को प्रदर्शित कर यह प्रदर्शनी उस मूल परिवेश को जीवंत बना कर प्रस्तुत करती है जिसमें इन पाण्डुलिपियों के सृजन एवं प्रयोग हुए होंगे।

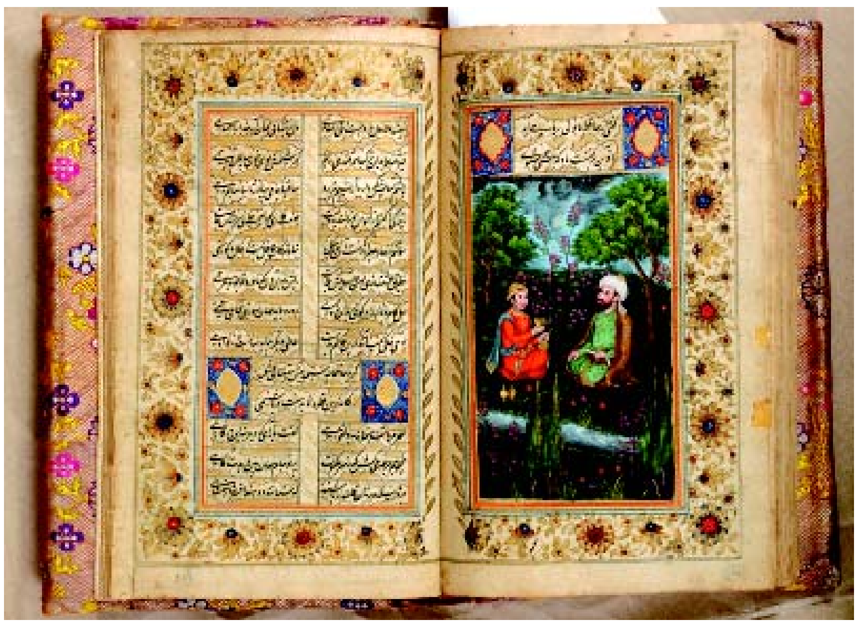

चित्रित पांडुलिपि

यह महत्वपूर्ण है कि भारत में पाण्डुलिपि लेखन की प्रक्रिया को पावन समझा जाता रहा है और इसमें पाण्डुलिपियों को श्रद्धेय बनाने वाली पाण्डुलिपि पूजन क्रिया की छवि प्रदर्शित की गई है। अभी भी भारत के कई संस्थानों में नियमित रूप से पाण्डुलिपियों की पूजा की जाती है। इस प्रकार हम भारतीय इतिहास में पाण्डुलिपि संस्कृति पाते हैं जो कि वर्तमान भारत में ज्ञान संस्कृति को समझने में महत्वपूर्ण है। हम आशा करते हैं कि अपनी पाण्डुलिपियों के कई प्राचीन पत्रों, लिपियों, भाषाओं और चित्रों में स्थित भारतीय स्मृति को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उजागर करने में यह प्रदर्शनी सफल होगी।

अन्य देश में भारतीय पाण्डुलिपि पर आयोजित इस प्रथम, व्यापक तथा सारगर्भित प्रदर्शनी का आयोजन राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन ने प्रदर्शनी आयुक्त के रूप में प्रख्यात कला इतिहासकार बी.एन. गोस्वामी तथा प्रदर्शनी का उद्घाटन 1 अक्टूबर, 2006 को जर्मनी में भारत की महामहिम राजदूत श्रीमती मीरा शंकर ने किया और इस अवसर पर कई गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। इसमें प्रो. बिपिन चन्द्र (अध्यक्ष, नेशनल बुक ट्रस्ट), श्रीमती महाश्वेता देवी (प्रख्यात साहित्यकार), श्री सुदीप बनर्जी (सचिव, मानव संसाधन विकास मंत्रालय), गुलज़ार (प्रख्यात गीतकार तथा फिल्मी हस्ती) तथा श्रीमती नुज़हत हसन (निदेशक, एन बी टी) के साथ-साथ अन्य गणमान्य व्यक्ति तथा प्रदर्शनी के आयोजन से संबंधित व्यक्ति उपस्थित थे। पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी का अपनी जर्मनी यात्रा के दौरान 3 अक्टूबर को इस प्रदर्शनी में आगमन हुआ और उन्होंने प्रदर्शित सामग्रियों की विविधता की सराहना की। यह प्रदर्शनी अनुप्रयुक्त कला संग्रहालय के नदी किनारे 7 जनवरी, 2007 तक लगी रहेगी।

– डॉ॰ सुधा गोपालाकृष्णन,
निदेशक, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन,
5, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110001

CMYK # 82

भाषा और संस्कृति

- डा० गंगाप्रसाद विमल

> **“भाषा और संस्कृति राज्य और सभ्यताओं की तरह जड़ और मरणशील नहीं होते। राज्य राजनीतिक कारणों से समाप्त हो सकते हैं या भौगोलिक विस्तार पा सकते हैं, ठीक यही स्थिति सभ्यताओं की है कि सभ्यताएँ प्राकृतिक तथा मानवनिर्मित आक्रोश से समाप्त हो सकती हैं किन्तु भाषाएँ और संस्कृतियाँ जो लोक में गहरे जमी होती हैं अपने रूपों में विकास या रूपान्तरण कर सकती हैं किन्तु समूल रूप से नष्ट नहीं होतीं।”**

भाषा और संस्कृति एक दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि उन्हें उस जुड़ाव से अलगाना एक असंभव कार्य है। स्पष्ट है वे अविच्छिन्न हैं। तथापि दो भिन्न अवधारणाएँ होते हुए भी वे एक-दूसरे को समृद्ध करती हैं, यह निर्विवाद है। कहा जा सकता है कि वे अन्त:निवेशी अवधारणाएँ हैं। वे एक-दूसरे में अपने-अपने ढंग से जोड़ती चलती हैं। हर भाषा एक सांस्कृतिक इकाई की उपज होती है। किन्तु कालान्तर में हर भाषा अपनी एक अलग संस्कृति का निर्माण करती चलती है। उसी पारिभाषिक आधार पर उसे अपनी एक अलग संज्ञा भी मिलती है। यह संज्ञा या पहचान एक समूचे अनुशासन का संवहन करती है। उसे हम भाषा के अनुशासन के रूप में देखते हैं। भाषा का वैज्ञानिक अनुशासन व्याकरण है और व्याकरण सिद्धान्तों के जरिए शास्त्र का निर्माण करता है। भाषा का शास्त्र एक उपलब्धि सूचक कीर्ति स्तम्भ की तरह है जो अन्य अनेक सहधर्मी या सहसंपर्क में आने वाली भाषाओं को प्रभावित करता है। इस तरह हम देखते हैं कि भाषा अपनी एक अलग संस्कृति के गठन में दूसरी भाषाओं तक प्रभाव के मार्गों का प्रवेश भी निर्मित कर डालती है। भाषा की यह शक्ति केवल भाषाई-संस्कृति का निर्माण नहीं है अपितु यह वृहत्तर अर्थों में उस संस्कृति का निर्माण है जिसका भाषा भी एक तत्व है। असल में इस जटिल प्रकरण को सुलझाना कई अनसुलझे प्रश्नों को जन्म दे डालता है। शायद इसी जटिलता के चलते भाषा और संस्कृति पर एक दूसरे के अन्योन्याश्रयी स्वभाव पर तो बात हुई है किन्तु संस्कृति की उस ताकत पर चर्चा नहीं हुई है जो भाषाओं को अपनी अनुकूल स्थितियों में विकसित होने देती है। केवल पुराना, परिचित और प्रचलित दृष्टान्त लें कि भारतीय संस्कृति जो अनेक भाषाओं में व्यञ्जित होती है यथा रूप पाती है यथा संप्रेषित होती है वह एक वृहत्तर, उदार तथा सार्वजनीन शास्त्राधार से विकसित होकर शास्त्र के भीतर दूसरी अनिवार्यताओं का भी विकास करती रहती है। हम कह सकते हैं कि भाषेतर विषयों के विवेचनाधार भी इसी प्रक्रिया में निर्मित होते रहते हैं।

संस्कृति या संस्कृतियों से अनेक भाषाओं का विकास होता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों की अनेक भाषाएँ होती हैं। संस्कृति के भाषा-रूपों की चर्चा अधूरी होगी यदि हम यह न स्वीकार करें कि सांस्कृतिक उपादानों की अपनी-अपनी अलग भाषाएँ होती हैं। उन्हें सामान्य बोलचाल की भाषा में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है, तब बोलचाल की भाषा का पारिभाषिक रूप सांस्कृतिक उपादान के अनुरूप होता है। मसलन, किसी एक लिपिहीन आदिवासी भाषा के बोलचाल के रूप को यदि आदिवासी कबीलाई रहस्य विश्वासों के विषय से जोड़ दिया जाए तो वह बोलचाल की भाषा रहस्य विषयक पारिभाषिक मान्यताओं के संप्रेषण के लिए एक तकनीकी किस्म के संवाद का निर्माण कर डालेगी। कहना न होगा कि भाषाओं के ऐसे रूपान्तरण स्वायत्तय होते हैं। जिस तरह संस्कृति की अनेक भाषाएँ होती हैं वैसी ही भाषाओं की अनेक संस्कृतियाँ हो सकती हैं। इस कथन का आशय केवल यह सिद्ध करता है कि संस्कृतियों की बहुरूपता है और वे अपनी भिन्न-भिन्न अन्तर्धारणाओं का विकास कर अपने रूपों का विस्तार करती रहती हैं।

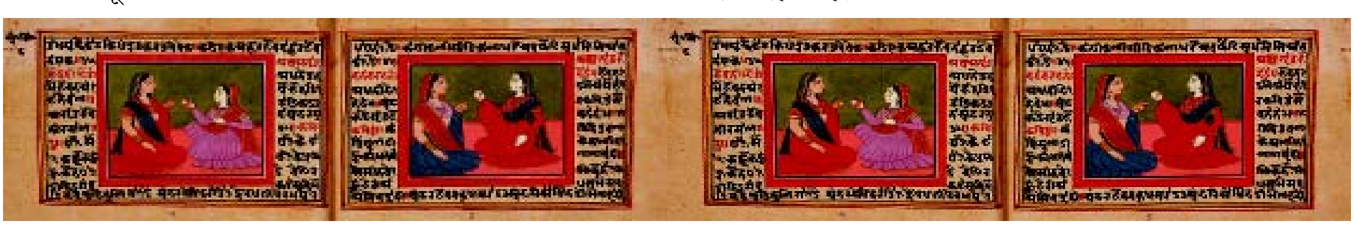

मरणशील नहीं होते। राज्य राजनीतिक कारणों से समाप्त हो सकते हैं या भौगोलिक विस्तार पा सकते हैं, ठीक यही स्थिति सभ्यताओं की है कि सभ्यताएँ प्राकृतिक तथा मानव निर्मित आक्रोश से समाप्त हो सकती हैं किन्तु भाषाएँ और संस्कृतियाँ जो लोक में गहरे जमी होती हैं, अपने रूपों में विकास या रूपान्तरण कर सकती हैं किन्तु समूलरूप से नष्ट नहीं होतीं। ठीक यही स्थिति संस्कृतिविहीन धर्मों की है। संस्कृतिविहीन धर्म कठमुल्ले होकर धीरे-धीरे संकोचन के शिकार हो जाते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं। मानव सभ्यता का इतिहास ऐसे असंख्य प्रमाण जुटाता है। अतः भाषा और संस्कृति पर इस दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है कि वे दोनों अपने मूलाधारों से जुड़े होने पर भी पुराने या अर्थहीन नहीं होते अपितु अपनी परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में वे निरन्तर नये अर्थ-संदर्भों से पुष्ट होते रहते हैं तथा नित्य नवीन बनते रहते हैं।

यह निर्विवाद है कि भाषा संस्कृति की महत्वपूर्ण संवाहिका है और इसी बिन्दु से भाषा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल की जा सकती है। माइक बेकन ने भाषा को संस्कृति का बीज तत्व मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि जिस तरह वैज्ञानिक अवधारणाओं के बीजाधारों पर वैज्ञानिक खोजों के विशाल केन्द्र तैयार होते हैं, वैसे ही भाषा भी बीजरूप में सांस्कृतिक भावाधारों को विकसित करती है। आज हम बीसवीं शताब्दी की अनेक अवधारणाओं के विकसित रूपों से इसीलिए रूबरू होते हैं क्योंकि हमने एक विशाल वृक्ष की संभावना से युक्त बीज का रोपण देखा है। यह समीकरण केवल चर्चा का आधार इस कारण बना हुआ है कि जिस तरह बीज धरती के गर्भ से छोटे पौधे के रूप में फूट कर, धरती की सतह से ऊपर उठकर एक समयावधि में परिपूर्ण वृक्ष का रूप धारण करता है- विकास की यह मात्रा अत्यन्त महीन, कभी-कभी अदृश्य सी होती है, ठीक वैसे ही जैसे हम किसी एक बच्चे के किशोर में तब्दील होते शरीर को अदृश्य रूप से विकसित होते मानते हैं, ठीक वही स्थिति विचारों या अवधारणाओं की है। अतः जब हम भाषा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करते हैं तो संस्कृति जैसे अमूर्त विकसन को उन मूर्त प्रारूपों में देखते हैं जो संस्कृति के तत्वों या रूपाकारों में विकसित होते रहते हैं। मोटे तौर पर यह माना जाता है कि विकास की प्रक्रिया कुछेक मामलों में दृश्य तथा कुछ में अदृश्य होती है। इस बात को केवल इस युक्ति से समझा जा सकता है कि विकास अवश्यंभावी है और वह अपने अन्य आधारों के साथ मिल-जुल कर सम्पन्न होता रहता है। अंगूर की बेल को ही उदाहरण बनाएँ तो अंगूर के एक बीज से छोटे से अंकुर के रूप में उभरनेवाली लता अपने चतुर्दिक विकास का सपना खूब फैलकर, खाली जगह घेर कर एक दिन फूलों और फिर फलों के रूप में अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त होती है। संस्कृति के विकास में इसलिए भाषा का सबसे बड़ा हाथ है क्योंकि भाषा के द्वारा वह एक शास्त्र का, अनुशासन का तथा विस्तृति में लक्षित विषयों के स्थापन और विवेचन की लंबी-लंबी शाखाओं के रूप में फैलती रहती है। जैसा हमने आरम्भ में प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत किया था कि संस्कृति अनेक भाषाओं में भी अपने को अभिव्यक्त करती है, इस कथन का आशय यह है कि संस्कृति समानान्तर रूप से अपने तत्वों के विकास की संभावनाएँ भी विकसित करती है।

संस्कृति समग्र रूप से एक बहुआयामी रूपाकार है। वह राष्ट्रीयताओं के रूप में भी सक्रिय रहती है तथा महादेशीय विस्तृतियों में भी, तथापि वह एक ऐसा आधार है जिसका लक्ष्य मनुष्य है। मनुष्य की विचारधारा और आचरणविधान की वह एक अलिखित किन्तु मनोलोक में निवसित अदृश्य किन्तु महाप्रभावकारी संहिता है जो उसे सकारात्मक रूप से सक्रिय रखती है तथा रचनात्मक रूप से उन निष्कर्षों के संवहन का दायित्व देती है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए अनिवार्य सी है। संस्कृति का बहुआयामी रूपाकार अनेक तत्वों

से निर्मित होता है और निरन्तर एक स्वायत्त सी प्रक्रिया से पुन: संस्कारित भी होता रहता है अर्थात् मनुष्य के आचरण में जो किसी एक कालखण्ड में प्रासंगिक सी व्यवहृत दिशा थी वह किसी दूसरे कालखण्ड में अपनी अर्थवत्ता का हस्तान्तरण भी कर सकती है इसलिए संस्कृति में कोई एक पक्ष कभी जड़ या अपरिवर्तनशील नहीं रहता। एक छोटे से दृष्टान्त से इस अवधारणा को स्पष्ट किया जा सकता है कि जैसे-जैसे मनुष्य के स्वनिर्मित निर्माण दूसरों को दृष्टि में रखकर बढ़ने लगते हैं तो उनका प्रयोजन होता है कि दूसरे नागरिक भी उनका उपयोग करें। इससे एक वृत्ति तो यह पनपती है कि एक दक्ष इकाई जब स्वदक्षता से अपने उद्योगों से उत्पाद बढ़ाती है तो वह निश्चित रूप से उसके उपयोगकर्ताओं को दृष्टि में अवश्य रखती है। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि दक्षता या कौशल या संस्कृति की अन्त:प्रेरणा से उत्पादित वस्तु अतिरिक्त वस्तु के रूप में संरक्षित ही नहीं की जायेगी अपितु उसके अन्य उपयोगकर्ताओं को अपने उत्कर्ष के लिए उसके उपयोग की स्वतन्त्रता रहेगी। अर्थात् एक भौतिक, उद्योगों की उत्पादन की गतिविधि समग्र रूप में मनुष्यों की किसी एक सामाजिक इकाई में सबके लिए उपलब्धता के भाव का भी निर्माण करती है। हो सकता है हम एक वाणिज्यकर्मी की दृष्टि से इसे व्यवसाय का पहला अध्याय मान बैठें किन्तु मनुष्य के कौशल का लाभ दूसरों को पहुँचे यह भावाधार संस्कृति के हिस्से में आता है। मिस्र की सभ्यता ने अपने क्षेत्रों में केवल वाणिज्य के लिए उत्पाद निर्मित किए हों यह तो संभव है किन्तु प्राचीन मिस्र की संस्कृति का लक्ष्य केवल वाणिज्य का लाभ बटोरना आज भी संस्कृतिकर्मियों के बीच युक्ति और तर्क के रूप में भी स्वीकार नहीं होगा।

संस्कृति की अन्तर्धाराएँ अपना मानवीय पक्ष इस तरह से कभी प्रदर्शित नहीं करतीं कि वह विज्ञापन दिखाई दे। परन्तु सभ्यताएँ यह कार्य करती हैं अत: सभ्यता और संस्कृति दो भिन्न रूपाकार हैं। यूरोपीय सभ्यता पदार्थों में अपना अस्तित्व झलकाती है किन्तु यूरोपीय संस्कृति की क्षमा, आत्मस्वीकृति, दया या करुणा किसी प्रकार के विज्ञापन की अपेक्षा नहीं रखती, यही कारण है कि भाषा जब संस्कृतियों की अन्तर्धाराओं का संवहन करती है तो वह मानवीय मूल्यों के पक्ष में अपना काम चुपचाप करती है। परन्तु जब भाषा सभ्यताओं के बीच संप्रेषण का काम करती है तब वह पादार्थिक लाभ के विवेचनों का सहारा लेती है या उनका लाभार्थियों के लिए परिगणन करती है। इसलिए भाषा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों में जब संस्कृति अपने रूपाकारों की मानवीय दृष्टि से सचेत होती है तब वहाँ प्रदर्शनकारी जल्दबाज़ी नहीं रहती। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो पूर्ण रूप से मानवीय आधारों पर ही घटित होती है अन्यथा वह दूसरे लक्ष्यों से प्रेरित सभ्यता के प्रदर्शनकारी, वर्चस्ववादी स्वभाव को अपना काम करने देती है। यहाँ हम संस्कृति की सचेतनता को इस प्रयोजन के लिए इंगित कर रहे हैं कि सभ्यता और संस्कृति के प्रकरणों में भाषा एक अहम भूमिका निभाती है।

अविश्वसनीय सी बात लग सकती है कि मनुष्य एक केन्द्रीय इकाई के रूप में यदि पूर्ण रूप से संस्कृतिविहीन हो तो वह वर्चस्ववादी होकर सभी चीज़ों को अपने अधिकार में लेने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर दूसरों के अधिकारों का हनन कर उसके लिए भी तर्क सृजित करेगा। विश्व के क्लासिकल (कालजयी) साहित्य में ऐसे अनेक दृष्टान्त भरे पड़े हैं जिनसे सिद्ध होता है कि एक सांस्कृतिक इकाई के भाषा रूप में, उसके अनुशासन में वह मानवीय पक्ष अधिक उभरता है जो उस सांस्कृतिक इकाई का उपलब्धिसूचक मान है। परन्तु भाषा संस्कृति के दूसरे तात्विक प्रकरणों को संस्कृति के मूल्याधारों के अनुरूप ही विश्लेषित करती है।

कुल मिलाकर भाषा संस्कृति की एक ऐसी इकाई है जो

स्वयं में, अपने भाषिक निर्माणों में, एक किस्म की रचनात्मकता को प्रश्रय देती है। संस्कृति का यही सकारात्मक पक्ष भाषा को संस्कृति के साथ एकमेक किए रहता है। जब नगरों का विकास होता है, आवासीय गतिविधियाँ बढ़ती हैं, सुविधाओं की मांग बढ़ती है, सुरक्षातंत्र का विकास होता है किन्तु तब भी नगरों का जीवन नारकीय स्थितियाँ प्रकट करने के लिए अभिशप्त होता है – ऐसे में संस्कृतियाँ और भाषाएँ एक आश्वस्तिदायक आधार प्रस्तुत करती हैं। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि सांस्कृतिक तथा तकनीकी विकास में एक जटिल भाषा का निर्माण होता रहता है तथा वह अपना विधिशास्त्र भी विकसित करती रहती है। वह एकरूप, स्वतंत्र, स्वच्छन्द भाषा विधि शास्त्र बनकर सभ्यताओं की क्रूरता से प्रभावित होकर संस्कृतिविहीन हो जाती है – वस्तुत: यह तर्क केवल उन घुमन्तू जातियों की संस्कृति, भाषा और सुरक्षात्मक विकास के संदर्भ में किया जाता है जहाँ वे जातियाँ पुन: अपना आधिपत्य जमाने के लिए क्रूर होकर सक्रिय रहती हैं। यह उदाहरण एक अपरिपक्व जाति की संस्कृति के बीज रूप से लिया जाता है क्योंकि जैसे-जैसे सांस्कृतिक बीज परिपक्वता की ओर आता है उसकी न्यायवादिता में एक सार्वजनिकता अर्थात् उदारता पनपने लगती है तथा वह समूचे सांस्कृतिक क्षेत्र के आचरण विधान का हिस्सा बन जाता है। कई विचारकों ने भाषा के अधिकार और आधिपत्य शैली के वर्चस्व की चर्चा करते हुए भाषा के आक्रामक पक्ष की संस्कृति के संदर्भ में प्रश्न उठाये हैं। यहाँ उनका विवेचन हमारा लक्ष्य नहीं है। स्थूल रूप से यह कहना संगत लगता है कि जो भाषा राजनैतिक कारणों से विकसित होती है उसका कालखण्ड चाहे पूर्णरूप से निर्धारित न हो, उसके सम्पूर्ण शास्त्र में एक विशेष अपूर्णता रह जाती है जिसे संस्कृतियों के व्याख्याताओं ने अभी विचारणीय नहीं माना है। अत: इस आधार पर यही कहकर संतोष किया जा सकता है कि जिस तरह दस्युओं, नकारात्मक दृष्टि के षडयंत्रकर्त्ताओं की भाषाएँ सार्वजनीन नहीं होतीं ऐसे ही आक्रान्ताओं और लुटेरे दलों की भाषाएँ भी संस्कृति में जगह हासिल नहीं कर सकतीं।

भाषा और संस्कृति इतिहास का संक्रमण भी करती हैं, क्योंकि इतिहास अपने घटनाक्रमों के परिप्रेक्ष्य में अपने युगान्तों की घोषणा करता है और नये युग के सूत्रपात की संभावना के परिदृश्य में ही सभ्यताओं का आकलन करता है। भाषा संस्कृति के मूलाधार की विभिन्न रूपों, शैलियों, विधाओं, सांस्कृतिक रूपाकारों तथा वस्तुरूपात्मक अवयवों का विवेचन, विश्लेषण तथा संरक्षण करती है। वह कभी-कभी इतिहास और युगों की उपलब्धियों को संकेतों, बीज कथनों में संरक्षित करती है। यह तो आधुनिक और उत्तर आधुनिक विवेचकों के सम्मुख चुनौती है कि वे भाषा के बीज कथनों को अनावृत्त कर उनके पूर्णांशों को स्पष्ट करने की दिशा में काम करें। मनुष्य जाति के सामने अतीत की संस्कृतियों की खोज का केवल यही रास्ता उपलब्ध है।

तकनीकी विकास के यंत्रों और तकनीकी ज्ञान के शास्त्र से भाषा को अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु जो ज्ञान या शास्त्र संस्कृति के सीमान्तों से बाहर पनपता या विकसित होता है उसके संस्कारण की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी और अदृश्य रहती है अत: सांस्कृतिक परिसीमा में उस तकनीकी विकास और उसके यंत्रों के प्रवेश में लंबा समय लग जाता है, फलत: तत्काल वैज्ञानिक अनुसंधानों से विकसित नई तकनीकों को वैश्विक सांस्कृतिक प्रारूप में ही देखा और परखा जा सकता है, यद्यपि यह कार्य स्वाभाविक रूप से अपने ही स्तर पर संस्कृति की अन्तर्धाराओं में सक्रिय रहता है तथापि उसे पहचानने की विधि की अनुपलब्धता के कारण उस पर हुए विवेचन के आधार अभी स्पष्ट नहीं हैं।

संस्कृति या संस्कृतियाँ तकनीकों और तकनीकी विकास को भी मानवीय संदर्भ में विकसित करती हैं – यह एक समुन्नत भाषा ज्ञान स्पष्ट कर सकता है कि किसी एक संस्कृति ने कितना अर्जन किया होगा। इस संदर्भ में भी हम पाते हैं कि भाषा संस्कृति की अन्त:निवेशी शक्ति है। भाषा और संस्कृति की अविच्छिन्नता के संदर्भों में इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है कि भाषा के विकास में, उसके वस्तुरूपात्मक उत्कर्ष में संस्कृति ही प्रेरणा का मूल सूत्र है।

– डा० गंगाप्रसाद विमल
112, साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नई दिल्ली-110019

परतों में छिपी कोशी की संस्कृति

डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय

> “ यह क्षेत्र हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण से प्राचीन काल से उत्कृष्ट रहा है। किन्तु इस क्षेत्र की ऐतिहासिक धरोहर को कोशी की प्रचण्ड धारा ने यहां की विरासत को समाप्त कर दिया। लेकिन अभी भी इसके साक्ष्य विभिन्न स्थलों में बिखरे पड़े हैं। यह क्षेत्र मूलतः बौद्ध धर्म से प्रभावित था। ”

बिहार की सांस्कृतिक विरासत अभी भी भारत के अन्य ऐतिहासिक स्थलों की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। उसी के पूर्वी उत्तरी भू-भाग में विस्तृत कोशी की धरोहर देखने योग्य है। रामायण, महाभारत एवं पुराणों में कोशी का कौशिकी नाम से उल्लेख है। इसी कौशिकी का अपभ्रंश जो महातीर्थ के रूप में ख्याति प्राप्त है वह है कोशी। यह क्षेत्र धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त समृद्ध रहा है। कोशी के प्रमुख ऐतिहासिक स्थल जैसे महिषि-बनगांव की उग्रतारा स्थान, कन्दाहा का सूर्य मन्दिर, महारस का कात्यायनी स्थान, विराटपुर का चण्डी स्थान, मधेपुरा का सिंहेश्वर स्थान, सुपौल का जगतपुर मठाही स्थान, आदि क्षेत्र इतिहास एवं मूर्तिकला के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं।

बिहार राज्य का कोशी प्रमण्डल का मुख्यालय सहरसा है। यह क्षेत्र हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण से प्राचीन काल से उत्कृष्ट रहा है। किन्तु इस क्षेत्र की ऐतिहासिक धरोहर को कोशी की प्रचण्ड धारा ने यहां की विरासत को समाप्त कर दिया। लेकिन अभी भी इसके साक्ष्य विभिन्न स्थलों में बिखरे पड़े हैं। यह क्षेत्र मूलतः बौद्ध धर्म से प्रभावित था, क्योंकि आज भी इस क्षेत्र में स्तूपाकार अथवा डीह दर्शनीय हैं। षोडष महाजनपद के अंग क्षेत्र का अंगुत्तराप जिसका मुख्यालय महिषि-वनगांव था जहां पर उग्रतारा मंदिर भी दर्शनीय है। यह मंदिर किसी समय बौद्धस्थल होने का अनुमान होता है जहां पर प्रत्यक्ष उदाहरण तारा का मंदिर है। कोशी से प्राप्त पंचमार्क सिक्कों से इस स्थल की प्राचीनता का साक्ष्य उपलब्ध होता है, वहीं भगवान बुद्ध के तत्कालीन आपणनिगम का स्पष्ट उदाहरण मिलता है, कुछ स्थल ऐसे हैं जो महाभारत एवं रामायणकालीन दिग्दर्शन कराते हैं। बनगांव क्षेत्र से विग्रह पाल का ताम्रपत्र इस क्षेत्र के इतिहास की झलक पर प्रकाश डालता है। इतिहासकारों की दृष्टि में महिषि बौद्धधर्म का एक प्रमुख केन्द्र था क्योंकि महायानी बौद्धधर्म तिब्बत और

चीन के मार्ग में होने के कारण महिषि का तंत्रपीठ तिब्बत में विख्यात हुआ। महिषि उग्रतारा की पूजा आराधना तांत्रिक पद्धति से की जाती है इससे अनुमान होता है कि महिषि का सम्बन्ध तंत्रवाद से रहा है। वैसे अनुमान लगाया जा सकता है कि विक्रमशिला महाविहार में तंत्र अध्ययन की शाखा थी। हो सकता है कि महिषि वनगांव विक्रमशिला महाविहार की तंत्र शाखा के रूप में विकसित किया गया हो। डा. किरण सहाय ने अपनी रचना विक्रमशिला के इतिहास में इस बात का उल्लेख नहीं किया है किन्तु अंगुतराप का यह क्षेत्र बौद्ध स्थल के लिए भी विख्यात रहा। महिषि (महिष्मति) ग्राम के दर्शन गुरू मण्डन मिश्र की निवास स्थली है, जहां पर मण्डन मिश्र की विदुषी भामती के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है कि हिन्दू धर्म को सुदृढ़ करने के दृढ़ संकल्प के लिए शंकराचार्य को यहीं कामशास्त्र के एक प्रश्न पर परास्त होना पड़ा था। महिषि ग्राम के उत्तर-पश्चिम दिशा में कन्दाहा सूर्य मंदिर है जिसे कर्णाट वंशीय राजा नर सिंह देव के द्वारा बनवाया गया था, जैसा जनश्रुति है कि यदा-कदा इस क्षेत्र से आहत सिक्कों के प्रतीक, बुद्ध की अनकेशः मूर्त्तियां प्राप्त होती रहती हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यह बौद्ध स्थल के रूप में अथवा महाविहार के रूप में विकसित रहा हो। महिषि की उग्रतारा जो तांत्रिक बौद्ध-देवी है उसकी पूजा क्षेत्रीय जनमानस के द्वारा तारा देवी के रूप में की जाती है। बौद्ध साहित्य मज्झिम निकाय (2.1.4) एवं

CMYK # 87

महावग्ग (6.5.2-15) से स्पष्ट होता है कि अंगुत्तराप का आपण-निगम का मुख्यालय बनगांव के आस-पास का क्षेत्र रहा होगा। कोशी क्षेत्र के पूर्व आरक्षी उप महानिरीक्षक श्री उमेश कुमार सिंह ने अपने अनुसंधान के क्रम में भी अंगुत्तराप के आपण निगम को प्रशासनिक मुख्यालय बनगांव ही माना है। बौद्ध साहित्य में अंगुत्तराप अर्थात् बौद्धकालीन अंग जनपद से उत्तर होने के कारण अंगुत्तराप कहा गया। बुद्ध ने भिक्षु संघ के साथ इस क्षेत्र का भ्रमण किया था। यहां के पोत्तलि गृहस्थ से ब्राह्मण तथा कोणिय जटिल ने भिक्षुसंघ सहित बुद्ध का सत्कार किया था। इस धर्मयात्रा में बुद्ध जातिवन में ठहरे थे तथा कोणिय जटिल ने यहां भिक्षुसंघ सहित भोजन ग्रहण किया था।

बौद्ध साहित्य में विस्तृत उल्लेख है कि भगवान बुद्ध अंग देश के भद्दिया से चलकर आपणनिगम पहुँचे थे। सहरसा जिले के बनगांव-महिषि (आपण निगम) जातिवन (देवनवन) कोणियवाह (कन्दाहा) विराटपुर (गदवाजार), पतरघट, गोरहोडीह आदि पुराबहुल ऐतिहासिक गाँव हैं। वनगाँव (वनाग्राम) घेमुरा नदी के पूर्वी तट पर एवं नदी के तट पर स्थित महिषि गांव दर्शनगुरू मण्डन मिश्र के कारण बहुचर्चित रहा है। इस क्षेत्र की ऐतिहासिक धरोहर का साक्ष्य ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म की मूर्त्तियाँ एवं आहत सिक्कों से होता है।

कोशी क्षेत्र ने एक विस्तृत ऐतिहासिक भू-खण्ड के लिए अपना स्थान ऐतिहासिक केन्द्रों के रूप में संजोया है। कोशी क्षेत्र का जगतपुर (सुपौल स्थित) एक कला बहुल क्षेत्र है, जगतपुर मठाही, गढ़वरूआरी गांव का पूर्वी भाग, जो नेपाल मार्ग से निकली एक छोटी दरिदा नदी के किनारे स्थित शिव मंदिर लगभग 10वीं शताब्दी के होने का अनुमान होता है। यह स्थल किसी समय विशाल स्तूप अथवा विहार रहा होगा, क्योंकि स्तूप अथवा विहार के गर्भ से कुषाण कालीन प्राप्त ईंटों से अनुमान होता है। क्षेत्रीय नागरिकों से यह जानकारी प्राप्त हुई है कि यहां से मूर्तियां बराबर निकलती रहती हैं। अभी भी शिव मंदिर में उमा महेश्वर की खण्डित मूर्त्ति के साथ साथ अन्य अस्पष्ट मूर्त्तियां जो काले पत्थर से निर्मित हैं, इसके साथ हर्दी दुर्गा स्थान की दस महाविद्या आदि का क्षेत्र धार्मिक परम्परा से सम्बन्धित है। कोशी क्षेत्र में मधेपुरा का सिंहेश्वर स्थान, बुधमा (जो बौद्ध स्थल होने का संकेत है)। वराहपुराण में विवरण मिलता है कि सृष्टि के आदि काल में शिव ने वराह का एक बार रूप धारण किया, देवता उन्हें पकड़ने के लिए दौड़े, इन्द्र ने उनके श्रृंग का अग्र भाग, ब्रह्मा ने मध्यभाग और विष्णु ने मूल भाग पकड़ा। श्रृंग के तीनों भाग इन तीनों देवताओं के हाथ में रह गए और शिव जी छिप गये, तब आकाशवाणी हुई कि आप लोग श्रृंग से ही सन्तोष करें, तब भगवान विष्णु ने अपने हाथों से श्रृंग को ही स्थापित कर दिया जिसमें इस स्थल का नाम श्रृंगेश्वर पड़ा, बाद में सिंहेश्वर स्थान बहुचर्चित हो गया। कोशी की सांस्कृतिक पहचान प्राचीन है। देखा जाय तो कोशी ने 'कौशिकी' नाम से साहित्यों में अपनी पहचान स्थापित की थी, किन्तु कोशी की तीव्र धारा ने इस क्षेत्र की ऐतिहासिकता को नष्ट कर दिया, जिसके अवशेष अभी भी वर्तमान हैं। वैसे यहां का इतिहास अभी भी परतों में छिपा है, इस क्षेत्र में स्तूप के अवशेष, मूर्त्तियों के भग्नावशेष इस तरफ ध्यानाकर्षित करते हैं। देखा जाय तो यहां का इतिहास बिलकुल उपेक्षित है। यहां क्षेत्रीय ग्रामों के आगे 'डीह' शब्द है जैसे महारस, देवनाडीह, भूसवर डीह, नाकुचडीह, जोगिया डीह, रमनाडीह आदि बौद्ध स्तूपों के होने के संकेत होते हैं। धेमुरा नदी के किनारे स्थित कन्दाहा का सूर्यमंदिर धार्मिक भावना से विख्यात है, यह मूर्त्ति, लगभग 10वीं शताब्दी की है, प्रतिमा लक्षण में सूर्य स्थानक मुद्रा में, पैरों में जूता, घोड़े पर सवार, उषा प्रत्युषा, सिर मुकुट यज्ञोपवीत धारण किए हुए है। यह मूर्त्ति प्रतिमा लक्षण युक्त निर्मित्त है। मंदिर का चौखट अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। अन्य तांत्रिक पीठ जैसे धमहरा रेलवे स्टेशन के समीप कात्यायनी स्थान सिद्ध पीठ, महारस का अष्टभुजी दुर्गा जो तंत्र पीठ होने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अभी भी यह क्षेत्र कला, संस्कृति के मायने में अपनी गरिमा को बनाए रखे हुए हैं।

इस तरह कोशी क्षेत्र का इतिहास संस्कृति एवं कला के दृष्टिकोण से गतिशील रहा है, यह क्षेत्र हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के संस्कृति का स्थल होने का साक्ष्य उपस्थित करता है, अभी भी यहां के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों का अनुसंधान क्षेत्रीय स्तर पर होना आवश्यक है, जिससे इतिहास लिखने में और भी प्रमाणिक साक्ष्य हो सकें।

- डा० ओम प्रकाश पाण्डेय
संग्रहालयाध्यक्ष, भागलपुर संग्रहालय,
भागलपुर।

आपका पत्र मिला

प्राप्त अंक अत्यंत आकर्षक है। पत्रिका में प्रकाशित लेख खोजपूर्ण व ज्ञानवर्धक हैं। मध्यकालीन इतिहास के अंश तथा लघुचित्र भारतीय उच्चतम संस्कृति दर्शाते हैं। पत्रिका के बीच में मध्यकालीन दक्कन शैली की मूल लघु चित्र की पोस्टर प्रस्तुति मुझे काफी पसंद आई।

– **विलास मुत्तेमवार**, राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार), अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय, 14, सी.जी.ओ. कॉम्प्लैक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली।

मैंने स्वयं इस पत्रिका का अध्ययन किया है। पत्रिका में प्रकाशित दक्कन शैली के मूल लघु चित्रों को जिस प्रकार सुन्दर एवं सरल ढंग से दर्शाया गया है वो बधाई का पात्र है। आशा करता हूँ कि भविष्य में पत्रिका का स्वरूप और अधिक प्रभावी होगा।

– **सुबोध कांत सहाय**, राज्यमंत्री, खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय (स्वतंत्र प्रभार), पंचशील भवन, अगस्त क्रान्ति मार्ग, नई दिल्ली।

मुझे प्रसन्नता है कि आप एक सुन्दर पत्रिका अपने पाठकों के लिये प्रकाशित करते हैं।

– **डॉ० कर्ण सिंह**, सांसद (रा.स.), 3, न्याय मार्ग, चाण्क्यपुरी, न.दि.।

अंक सुंदर है। लघु चित्र की पोस्टर प्रस्तुति सुंदर है और सुरक्षित रखने योग्य है। अच्छा हो यदि यह अंक भारतीय विमानन सेवा में भी उपलब्ध कराया जाय। इस अच्छे अंक के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

– **डॉ० मुरली मनोहर जोशी**, सांसद (रा.स.), 6, रायसीना रोड, न.दि.।

प्रधान मंत्री
Prime Minister

नई दिल्ली
24 जुलाई, 2006

प्रिय श्रीमती अम्बिका सोनी,

आपके दिनांक 14 जुलाई, 2006 के पत्र के लिए धन्यवाद जिसके साथ आपने संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संस्कृति' की एक प्रति भेजी है।

पत्रिका में छपे सभी लेख रोचक एवं पठनीय हैं। मध्यकालीन दक्कन शैली के लघु चित्र का पोस्टर एवं अन्य चित्र भी बहुत सुंदर हैं। मुझे आशा है कि यह पत्रिका पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ संस्कृति मंत्रालय में हिंदी के प्रचार-प्रसार में सहायक सिद्ध होगी

शुभकामनाओं सहित,

आपका,

(मनमोहन सिंह)

श्रीमती अम्बिका सोनी
पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री
नई दिल्ली

पत्रिका का कलेवर और सामग्री वास्तव में प्रशंसनीय है। अतीत से वर्तमान को जोड़ना और उससे भविष्य के लिए प्रेरणा देना, इसी माध्यम से संभव है। भविष्य में भी इस देश की विभिन्न विधाओं यथा मूर्तिकला, चित्रकला, निर्माणकला, नृत्यकला आदि के अतीत से परिचित करायेंगे तो आप देश की बहुत बड़ी सेवा करेंगे।

ललित कुमार चतुर्वेदी, संसद सदस्य (राज्य सभा), 4 भ 21, जवाहर नगर, जयपुर-302004

भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण धरोहर लिये हुए है। कृपया समय-समय पर भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित/उजागर करने वाले लेखों व तत्संबंधी यदि चित्रादि उपलब्ध हों, उनकी पोस्टर प्रस्तुति भी प्रकाशित करें।

डॉ० लक्ष्मीनारायण पाण्डेय, संसद सदस्य (लोक सभा), 1, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-110001

दक्कन शैली के मूल चित्र बहुत ही मनमोहक हैं। इस पत्रिका से आम जनता को बहुत लाभ होगा। यह पत्रिका बहुत अच्छी लगी।

सुरेश प्रभू, सांसद, 59, लोधी इस्टेट, नई दिल्ली।

पत्रिका के अवलोकनोपरान्त माननीया मंत्री जी का अभिमत है कि पत्रिका में हमारी संस्कृति, इतिहास, साहित्य, चित्रकला तथा विदेशों में फल-फूल रही भारतीय संस्कृति की विरासत व त्यौहारों का एक सजीव चित्रण किया गया है जो अत्यन्त सुरुचिपूर्ण एवं प्रशंसनीय है।

संजय कुमार, निजी सचिव, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री।

संस्कृति का नया अंक भव्य प्रकाशन है जो हिंदी के सम्मान को बढ़ाता है। मंत्री महोदया श्रीमती अंबिका सोनी जी का संदेश प्रेरणादायक और वर्तमान के लिए महत्वपूर्ण है। कला, विश्वरूप, मृण्मूर्तियां आदि के विस्तृत विवेचन पत्रिका की विशेषता हैं। हिंदी में यह पहली उच्च-स्तरीय कृति है। आजकल सब कविता और कहानी से ऊपर ही नहीं उठते। चिन्तन की गहराइयों और ऊंचाइयों को छूने से आपकी पत्रिका का धीरे-धीरे विलक्षण स्थान बनेगा। ''रोमा''

CMYK # 89

का उल्लेख कई वर्षों के पश्चात् पढ़कर प्रसन्न हुआ। श्रीमती इंदिरा गांधी के समय विश्व-रोमा-सम्मेलन हुआ था, जिसको उन्होंने स्वयं सुशोभित किया था। इस्लामी योगदान, पक्षी और संस्कृति, नारी का दिव्यत्व और मातृत्व, भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षक ग्रियर्सन, वीरांगना लक्ष्मीबाई - कितना व्यापक क्षेत्र एक ही अंक में आपने संजोया है।

प्रो० लोकेशचन्द्र, पूर्व सांसद (रा.स.), जे-22, हौज खास एन्क्लेव, नई दिल्ली-110016

'संस्कृति' पत्रिका सरसरी निगाह से देखने पर भी आकर्षक और अर्थपूर्ण लगी। इसके लिए बधाई कबूल करें।

निखिल कुमार, सांसद (लो.स.), एबी-91, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में जिन विषयों का उल्लेख किया गया है वे सभी सूचनाप्रद हैं। इस पत्रिका में प्रयुक्त कागज, मुद्रण, के साथ-साथ वर्णित विषय अत्यधिक प्रशंसनीय हैं। इस पत्रिका में मध्यकालीन दक्कन शैली के चित्र भी प्रशंसनीय हैं।

अमर सिंह, सांसद (रा.स.), 27, लोधी एस्टेट, नई दिल्ली-110003

विविध आयामी विषय-वस्तु से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पत्रिका हमारी समन्वित संस्कृति को गतिशील बनाये रखने में सार्थक भूमिका का निर्वाह कर रही है। जहां प्राचीन समाज के कुछ अनजाने पहलू सामने आए हैं, वहीं देश के विभिन्न भागों में विकसित ललित कलाओं के अतीत और वर्तमान, दोनों रूप ही देखे जा सकते हैं। इस अंक में आपने ''फ्लोरेंस कला-द्वैवार्षिकी और भारत'' पर जो संवाद करवाया है, वैसा ही देश के विभिन्न अंचलों में विकसित और विकासशील ललित कलाओं के संरक्षकों और पोषकों के बीच में संवाद का क्रम चले तो मेरे विचार से जहां एक साझा समझ विकसित होगी, वहीं कला रूपों को देखने-समझने की नयी चेतना पैदा होगी। जहाँ तक वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति का सवाल है, वहां मुझे इतना ही कहना है कि यह तो कतिपय ऋषिकाओं की रचनात्मक ऊर्जा ही रही कि पुरुष-प्रधान व्यवस्था को उन्हें मान्यता देनी पड़ी। अन्यथा, सामान्य तौर पर स्थिति जो कल थी, वही आज भी है।

सरला माहेश्वरी, पूर्व सांसद (राज्य सभा), 18, विंडसर प्लेस, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका का नवीनतम अंक मिला। उसको मैंने थोड़ा बहुत पढ़ा भी। लघु चित्र और रचनाएँ बहुत प्रभावशाली लगीं।

विनोद दुग्गल, गृह सचिव, भारत सरकार

इसमें प्रस्तुत मध्यकालीन दक्कन शैली के मूल लघु चित्र की पोस्टर प्रस्तुति बहुत आकर्षक एवं सुन्दर है।

मधुकर गुप्ता, सचिव, युवा कार्यक्रम एवं खेल मंत्रालय, भारत सरकार

'संस्कृति' पत्रिका का अद्यतन संस्करण भेजने के लिए आभारी हूँ जिसमें मध्यकालीन दक्कनी शैली के लघुचित्र वाले पोस्टर अत्यंत सुंदर हैं।

मैं समझता हूँ कि यदि इस पत्रिका का अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित किया जाए तो वह जनोपयोगी सिद्ध होगा।

पी.के.एच. ठाकरन, सचिव (आर), मंत्रिमंडल सचिवालय, कमरा सं. 7, बीकानेर हाउस (एनेक्सी), शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली

अंक संग्रहणीय है। ''लड़की'' कहानी अत्यन्त हृदय स्पर्शी है। एक लड़की को मायके की याद आने पर मां की यह सलाह ''बेटी, सपने देख लेना'' आंखों को नम कर गयी। पांच दिनों के बाद पति जब घर आए तो हर चीज यथास्थान मिले, सोचने को विवश कर गया कि लड़की भी कहीं एक चीज तो बन कर नहीं रह गई है।

डॉ० श्रीमती राजलक्ष्मी शिवहरे, सी-13, एच.आई.जी. धनवन्तरी नगर, जबलपुर, म.प्र.

मुख्य आवरण के चित्र को देखकर विश्वास होता है कि भारतीय चित्रकला उन्नीसवीं शती में भी सम्मान पूर्वक अपनी उपस्थिति रख सकती थी। आज इसका ऐतिहासिक महत्व तो है ही।

पी. नारायण ने तानसेन के विषय में दुर्लभ जानकारी देकर, हमें अपनी विरासत के प्रति जागरूक होने का संदेश दिया है, गौरव भी दिया है।

चीन में बौद्ध धर्म के विस्तार के विषय में संजीव कुमार सिंह के लेख को हमें देकर, आपने हमें अनुगृहीत किया है।

''ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकाएं'' पढ़कर निश्चित विश्वास हुआ कि तत्कालीन स्त्री गृह स्वामिनी होती थी। शोध का विषय है हमने कब यह उदात्त व्यवहार छोड़ दिया।

ग्यारहवां अंक संस्कृति इतिहास तथा जीवन के संबंधों को सोदाहरण पुष्ट करता है।

विश्वमोहन तिवारी, एयर वाइस मार्शल (से.नि.), ई-143/21, नोएडा, उ.प्र.

आपका मंत्रालय इतनी भव्य व सुरुचिपूर्ण पत्रिका निकाल रहा है, यह हम सभी के लिए गर्व और हर्ष का विषय है। मैं सर्वथा मुग्ध हूँ तो इसलिए कि इस अंक के संपादन-संयोजन में अद्भुत शोध व कलामर्मज्ञता का परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति की अनुपम धरोहर, लघु चित्र श्रृंखला का ऐसा चुनिन्दा और संग्रहणीय संचयन स्तुतीय है। अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं में कांगड़ा शैली के ही लघु चित्र मिलते हैं। पर आपकी पत्रिका ने लीक से हट कर काम किया है। रामपुर रजा लाइब्रेरी से अकबर के एल्बम (तिलिस्म) में से लेकर चित्र प्रकाशित करना वाकई एक उपलब्धि है। एक तरफ तानसेन के गाँव बेहट पर सामग्री, दूसरी तरफ कृष्ण के विश्वरूप पर; वैविध्य के इस सौष्ठव पर मेरी हार्दिक कृतज्ञता स्वीकारें।

मृदुला गर्ग, ई-421 (भूतल), जी.के. 2, नई दिल्ली-110048

इस अंक में मीनियेचर पेंटिंग बहुत ही लुभावनी और संग्रहणीय है। पाठक शायद ''संस्कृति'' में छपे पोस्टरों के कारण ही इसे अपने पास रखना चाहेंगे। सरकारी पत्रिकाओं के प्रकाशन पक्ष को लेकर जो लोगों में गलत धारणाएं हैं कि ये आकर्षक ढंग से नहीं छपती, उसे आप तोड़ रही हैं। बधाई।

सुरेन्द्र तिवारी, बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

लेखों की गुणवत्ता, मुद्रण, प्रस्तुति और कलात्मकता की दृष्टि से यह अंक सचमुच संग्रहणीय बन गया है। इस अंक की सज्जा के बारे में तो जितना भी कहा जाए कम है। यायावर संस्कृति, इंडो इस्लामिक विरासत, कृष्ण का विश्वरूप, संगीत सम्राट तानसेन का गाँव आदि लेख बहुत सुंदर और सुरुचिपूर्ण हैं। देखने से ही लगता है कि इस अंक के लिए इतनी विशिष्ट सामग्री जुटाने के लिए आपकी टीम को बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा। आप और आपका संपूर्ण संपादक मंडल बधाई के पात्र हैं।

प्रो० सूरज भान सिंह, आई-127, नारायणा विहार, नई दिल्ली-110028

चित्रकला को समर्पित यह अंक अपने दुर्लभ चित्रों और शोधपरक सामग्री के कारण सहज ही संग्रहणीय बन गया है। श्री प्रसन्न कुमार होता की ''लड़की'' का उड़िया रूपांतर तदनुसार हिदीं रूपान्तर तो इस अंक की श्रेष्ठतम निधि है। ऋग्वैदिक स्त्री, कृष्ण का विश्वरूप, जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन तथा वीरांगना लक्ष्मीबाई भारतीय संस्कृति का समुन्नत रूप प्रकट करते हैं।

प्रो॰ कृष्ण कुमार गोस्वामी का आलेख पूर्व प्रकाशित शीला गुजराल के आलेख का विस्तार-भर है। ''पक्षी और संस्कृति'' में तिवारी जी विषय से विलग होकर केवल उलूक वर्णन में रम गए, जबकि यह लेख रम्य रचना या ललित निबन्ध बन सकता था।

संकोच के साथ छपा आपका अतरंग चित्र (माँ-बेटी) और मध्य पृष्ठीय पोस्टर अपने रंग चयन और रांगिक ऊर्जा से प्राणवंत लगते हैं। संपादन की स्वत: स्फूर्त चेतना से ओतप्रोत संपादकीय शबनमीय है।

सलीम खां फरीद, हसामपुर-332718, सीकर (राजस्थान)

भूमण्डलीकरण के दौर में संस्कृति के बाजारीकरण की समस्या को उभारता संपादकीय ''संस्कृति बनाम बाजार'' सोये हुए पाठक की आंखें खोल देता है। डॉ. मनमोहन सिंह का अभिभाषण तथा श्रीमती अंबिका सोनी का साक्षात्कार संस्कृति के प्रति उनके नजरिये को दर्शा कर हर भारतीय को यह एहसास देता है कि वह स्वयं को संस्कृति से जुड़ा हुआ महसूस करे। भारतीय चित्रकला के माध्यम से कृष्ण के विश्वस्वरूप को दर्शाता लेख व संबंधित चित्र प्रशंसनीय हैं। भारतीय मृण्मूर्तिकला एवं चीन में बौद्ध धर्म व कला हमें उसकी ऐतिहासिकता का ज्ञान कराकर संस्कृति से जोड़ने का कार्य कर रहा है। होली को रंग देते भारतीय चित्र पारंपरिक होली को सजीव कर देते हैं। ऋग्वैदिक कालीन स्त्री और ऋषिकाओं की स्थिति दर्शाता लेख उस काल में स्त्री की समाज में महत्वपूर्ण भूमिका की ओर इंगित करता है। इसके अतिरिक्त स्त्री के लड़की व उसके मातृत्व से संबंधित अन्य लेख व चित्र में उसके उस रूप पर दृष्टि जाती है जिस पर साधारणत: समाज ध्यान नहीं देता। इसके अतिरिक्त पत्रिका के बीच में मध्यकालीन दक्कन शैली के मूल लघु चित्र की पोस्टर प्रस्तृति अपूर्व है।

अनुराधा मुखर्जी, निदेशक, पूर्व क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, ''इकातन'' आई ए-290, सेक्टर-।।।, साल्ट लेक सिटी, कोलकाता-700097

'संस्कृति' पत्रिका का नवीनतम अंक अति सुन्दर लगा। मुख्य आवरण पर दक्कन शोरापुर का नृत्य एवं संगीत मंडली का चित्र प्रशंसनीय है। भीतरी मुख्य आवरण पर संत कबीरदास व संत रविदास के चित्र भी आकर्षक लगे। पत्रिका के बीच में मध्यकालीन दक्कन शैली के मूल लघुचित्र (Miniature Painting) का पोस्टर सुरुचिपूर्ण था।

प्रो॰ राजीव लोचन, निदेशक, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, जयपुर हाऊस, इंडिया गेट, नई दिल्ली-110003

बहुविध सामग्री के साथ सांस्कृतिक समग्रता कुछ यों नत्थी है, जैसे दूध में पानी। आपने संपादकीय में भारत के पड़ोसी देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध को मजबूत करने की दिशा में कुछ सुझाव दिए हैं। इन देशों के बुद्धिजीवियों के बीच सांस्कृतिक मंच का गठन होना चाहिए। विजय वर्मा जी का लेख ज्ञानवर्द्धक और दृष्टिपरक है। ''दक्षिण में मृण्मूर्तिकला के अभाव की चर्चा'' विस्तार में होनी चाहिए थी। मतलब यह, जिन स्थलों का उल्लेख इस लेख में हुआ है, उसको और फैलाव मिल सकता है। संजीव कुमार सिंह का चीन में बौद्ध धर्म के विकास का अच्छा विश्लेषण है। डब्ल्यू एच सिद्दिकी और पी नारायण के लेखों से अपनी

CMYK # 91

समृद्ध विरासत के संकेत मिलते हैं। बेहट गांव को हर तरह से पर्यटन स्थल का रूप मिलना चाहिए। लगता है विश्वमोहन तिवारी जी पक्षी विज्ञान पर काफी काम कर चुके हैं। बहुत महीनों बाद पक्षियों की संस्कृति पर लेख पढ़ने को मिला है।

अरुण कुमार, 2के/81, हाउसिंग कॉलोनी, बरियातु, राँची-834009 (झारखण्ड)

संस्कृति के विविध आयामों को एकसूत्र में पिरोकर इस रूप में प्रस्तुत किया जाना निस्संदेह एक महती कार्य है।

पत्रिका गौरवशाली भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की वाहक बनकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारी पहचान बना रही है। इस अंक में संपादकीय में आपने साहित्य - कला पर बाजारू संस्कृति के हावी होने पर चिंता जाहिर की है, तो इस पर हम सभी को विचार करना है। हमारी सांस्कृतिक - साहित्यिक चेतना इस उपभोक्तावाद की आंधी में उड़ न जाए, इसका ध्यान नई पीढ़ी को रखना होगा।

शेखर मल्लिक, द्वारा- सवेरा प्रकाशन, मऊभंडार, ब्लॉक-2, 44/3 ए.टी.एफ., सिंहभूम पूर्वी-832103, झारखण्ड

''संस्कृति'' का नया अंक मिला। सचमुच कुछ शोधपरक अच्छी सामग्री है। बधाई।

आलोक मेहता, संपादक, आउटलुक, एबी-6, सफदरजंग एन्कलेव, नई दिल्ली-110029

संपादकीय में ''संस्कृति बनाम बाजार'' के माध्यम से कलाकार सूक्ष्म संवेदनाओं और अपने विचारों को सुरुचि और सुंदरता से संप्रेषित कर सकता है। कला के अनेक सोपान संभव हैं। सत्य है ''कविता का...... बूंद कौन बचा सके।'' साहित्यिक विधाओं की चुनौतियाँ तो विचार करने हेतु विवश करेंगी ही। समाधान खोजकर प्रस्तुत करना ही होगा। पर्यटन और संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी का साक्षात्कार अति महत्वपूर्ण है कि आम आदमी भी कला और संस्कृति से जुड़े। भारतीय संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समुचित प्रसार करना ही मुख्य उद्देश्य हो। श्रीमती नीना रंजन द्वारा रचित ''भारतीय चित्रकला में श्रीकृष्ण का विश्वरूप'' संबंधी सचित्र आलेख पठनीय है, प्रशंसनीय है। विश्वरूप कृष्ण के एक सौ आठ नामों में ''विश्वरूप प्रदर्शकाय नमः'' भी एक नाम है। मृण्मूर्तियों का भंडार मथुरा संग्रहालय में ही अधिक है। ''संगीत का आनंद लेती हुई महिलाओं का दक्कन पोस्टर'' अधिक सुन्दर और नयनाभिराम है।

डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया, नंदन, भारती नगर, मैरिस रोड, अलीगढ़-202001

यदि यह पत्रिका त्रैमासिक या मासिक होती तो इस पत्रिका जैसी स्तरीय, शोधपूर्ण और अत्याधुनिक दूसरी पत्रिका देश में नहीं होती। कुशल संपादन, चित्ताकर्षक प्रकाशन और सरल प्रस्तुति के कारण यह पत्रिका संस्कृति की पर्याय हो चली है। इस ताजे अंक में प्रकाशित मध्यकालीन दक्कन शैली के मूल लघु चित्र ने बड़ा प्रभावित किया है। यों सभी अंक संग्रहणीय हैं किंतु यह अंक विशेष रूप से सुरक्षित रखने योग्य है।

डॉ० तारादत्त निर्विरोध, 254, पद्मावती कॉलोनी, अजमेर रोड, जयपुर-302019

''संस्कृति'' उत्तरोत्तर भारतीय वाङमय में नए कीर्तिमान स्थापित कर रही है तथा दक्कन शैली के मूल लघु चित्रों को प्रकाशित कर पाठकों का मन मोह रही है। इस नए प्रयोग के लिए हार्दिक साधुवाद स्वीकारें। पत्रिका का यह अभिनव प्रयोग आकर्षक तथा सुखद लगा।

पत्रिका में प्रकाशित भारत की संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी का साक्षात्कार भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों को उजागर करता है। ''वसुधैव कुटुम्बकम'' तथा ''अतिथि देवो भव'' जैसे वचन भारतीय संस्कृति के मूलाधार रहे हैं।

श्याम सिंह शशि, बी-4/245, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-110029

यह अन्य सरकारी पत्रिकाओं से अलग लगती है, सुन्दर और आकर्षक है।

प्रभाकर श्रोत्रिय, निदेशक, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, पोस्ट बॉक्स नं0 3113, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

अंक देखकर बड़ी खुशी हुई। भारत की पुरानी संस्कृति का उजागर हुआ है। सचमुच पत्रिका का प्रकाशन प्रशंसनीय है। राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार काफी आगे बढ़ा है। पी. नारायण का लेख, ''संगीत सम्राट तानसेन का गाँव बेहट'' बड़ा उच्च कोटी का है। फोटो भी अच्छे हैं।

बी.एस. शांताबाई, प्रधान सचिव, कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति, 178, IV मेन रोड, चामराजपेट, बैंगलोर-560018

विभिन्न आलेखों को पढ़ना तथा सुन्दर चित्रों का रसास्वादन करना काफी दिलचस्प रहा। मैं आपको और उन सभी को हार्दिक बधाई देता हूँ, जिन्होंने इस पत्रिका के प्रकाशन में योगदान दिया, और जिसके माध्यम से आप जनता को अपने देश के समृद्ध इतिहास, संस्कृति, कला और स्थापत्य की जानकारी प्रदान करते हैं। मुझे मध्यकालीन दक्कनी शैली के लघु चित्र का सुन्दर पोस्टर बेहद पसन्द आया।

आर्चबिशप पेड्रो लोपेज़ क्विंताना, एपोस्टॉलिक न्यूनसिओ, 50-सी, नीति मार्ग, चाण्क्यपुरी, नई दिल्ली-1100021

CMYK # 92

वाह ! क्या खूबसूरत एवं संग्रहणीय अंक है, प्रकाशित आलेखों के शीर्षक, सब-टाइटल्स और चित्र ही देख पाया, चयन, प्रस्तुतिकरण, संपादन, तेवर, कलेवर सभी उत्कृष्टतम हैं। मध्यकालीन दक्कन शैली मिनीएचर चित्र का उपहार अंक को बहुमूल्य बनाता है। ऐतिहासिक महत्व के विशद जानकारी परक आलेख पत्रिका की धरोहर हैं।

मनोज अबोध, सरस्वती मार्ग, बिजनौर-246701 (उ.प्र.)

पत्रिका देखकर सुखद आश्चर्य और हर्ष हुआ कि संस्कृति मंत्रालय हिंदी में एक अत्यंत महत्वपूर्ण और सुरुचिपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन कर रहा है। आपने बड़े श्रम से एक योजना के अंतर्गत दुर्लभ सामग्री प्रकाशित की है। मुझे विश्वास है कि यह पत्रिका भारतीय संस्कृति में रुचि लेने वाले पाठकों को बहुत पसंद आएगी।

प्रो० असगर वजाहत, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025

किसी शासकीय मंत्रालय/विभाग की गृह पत्रिका इतनी आकर्षक, उद्देश्यपूर्ण और कलात्मक परिकल्पना से परिपूर्ण हो सकती है, सहसा विश्वास नहीं हुआ। पत्रिका का 11वाँ अंक आवरण पृष्ठ से लेकर अंतिम आवरण पृष्ठ तक सर्वाङमय सुन्दर, सार्थक और संग्रहणीय हैं। वास्तव में संस्कृति मंत्रालय की गृह पत्रिका ऐसी होनी चाहिए थी। इसमें भारतीय संस्कृति के विविध पक्ष अपनी पूरी गरिमा और गुणवत्ता के साथ मुखरित हुए हैं। पत्रिका के साथ दिये गये मध्यकालीन दक्कन शैली के मूल लघु चित्र के रूप में पत्रिका के पाठकों को आपने एक अनमोल निधि दी है।

युगेश शर्मा, ''व्यंकटेश कीर्ति'', सौम्या एन्क्लेव एक्सटेंशन, चूना भट्‌टी, भोपाल-462039

साज-सज्जा-सामग्री सभी उच्च स्तरीय हैं, देखकर मन प्रफुल्लित हो उठा। ''हर भारतीय अपने-आप को सांस्कृतिक विरासत से जुड़ा महसूस करे'' सोनी जी का यह निर्देश कदाचित भारत में रह रहे भारतीयों के लिए बहुत आवश्यक है, लेकिन हम विदेशों में रहने वालों के लिए तो हमारी सांस्कृतिक विरासत ही हमारी अस्मिता का आधार है इसलिए ऐसी पत्रिकाएँ हमारे लिए और भी अधिक महत्व की होती हैं।

डॉ० इन्दुप्रकाश पाण्डेय, बर्लिनरस्ट्रासे 19, 65824 श्वालबाख, जर्मनी

सामग्री लगभग सभी अच्छी है। ''इंडो इस्लामिक विरासत का बेजोड़ खजाना - रामपुर रज़ा लायब्रेरी'' जानकारियों से भरा लेख है। इसी तरह भिन्न प्रसंग में ''संगीत सम्राट तानसेन का गाँव बेहट'' भी महत्वपूर्ण जानकारियों से भरा है। डॉ0 कृपाशंकर सिंह का ''ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकायें'', मृणाल पाण्डे का लेख ''माँ से प्रभावित होता स्त्री का व्यक्तित्व'' और ''लड़की'' एक ही विचारशृंखला का भिन्न वैचारिक धरातल पर विस्तार है।

इतनी सुन्दर पत्रिका संग्रहणीय है जिसमें विविध विषयों पर ऐसी दुर्लभ सामग्री है कि पाठक के लिए नया अध्याय बन जाता है। अंबिका जी का सारगर्भित साक्षात्कार, रज़ा लाइब्रेरी, बेहट, बाबा फरीद, पक्षी और संस्कृति, माँ से प्रभावित होता व्यक्तित्व, जॉर्ज ग्रियर्सन, लक्ष्मीबाई आदि को अक्षर-अक्षर पढ़ा। लड़की - श्री होता का रूपान्तर हृदय को छू जाने वाला है। लेख में स्वाभाविकता, सहजता, सरलता एवं आज के संदर्भ में वास्तविकता यही है। आज भी लड़की को बदले हुए दौर में भी इस रास्ते से गुजरना ही होता है कम या ज्यादा।

''कृष्ण का विश्व रूप'' के कई उदाहरण हमने नोट किए हैं अपने छात्रों के लिए। बौद्ध धर्म जापान के संदर्भ में उपयुक्त विषय रहा है। ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकाएं पढ़कर बहुत कुछ याद आया। पोस्टर प्रस्तुति अति सुंदर है। पोस्टर विश्व विद्यालय के कमरे में लगाया है। जापानी छात्रों को ऐसी वस्तुएं दिखानी पड़ती हैं।

डॉ० वाई.एस. नक्वी, ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फारेन स्टडीज़, जापान

संपादकीय में कला और बाज़ार के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर विश्लेषण एक गहरी चिन्ता के साथ है। ये बातें जरूरी भी हैं । ''संस्कृति'' के पृष्ठों पर इस तरह के विश्लेषण और चिंता देखकर तसल्ली और खुशी होती है।

भालचन्द्र जोशी, ''एनी'' 13 एच.आई.जी., हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, जैतापुर, खरगोन-451001 (म.प्र.)

'संस्कृति' का मार्च, 2006 अंक भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों को कुशलतापूर्वक प्रस्तुत करने में सफल रहा है। आपका सक्षम संपादन एवं आपकी टीम का अनवरत परिश्रम इसके स्वरूप को निखारने में सहायक रहा है। पद्मश्री डॉ॰ श्यामसिंह शशि जी ने ''यायावर संस्कृति - कल और आज'' के माध्यम से भूले बिसरे आदि प्रवासी यायावरी की पृष्ठभूमि, उनके जीवन संघर्ष और वर्तमान स्थिति को बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है। विद्वान लेखक को साधुवाद। श्रीमती नीना रंजन ने योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के विश्वरूप का जो चित्रात्मक विवेचन किया है वह प्रशंसनीय एवं सराहनीय है। श्री विजय वर्मा का लेख ''भारतीय मृण्मूर्तिकला'' भी पठनीय एवं शोधपरक है। डॉ॰ सिद्दकी ने रामपुर रज़ा लाइब्रेरी का परिचय बहुत सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है। श्री पी॰ नारायण ने संगीत सम्राट तानसेन के गांव बेहट का जो शब्द चित्र उकेरा है वह प्रशंसनीय है। संजीव कुमार सिंह, डॉ॰ दलजीत, डॉ॰ महीप सिंह, विश्वमोहन तिवारी, डॉ॰ कृपाशंकर सिंह, मृणाल पांडे, अरुण कुमार, सुरेश नीरव तथा प्रो॰ कृष्णकुमार गोस्वामी के लेख भी पठनीय एवं मननीय है। सार्थक एवं उद्देश्यपरक पठनीय सामग्री के संकलन एवं संपादन के लिए बधाई स्वीकार करें।

डॉ० हरी सिंह पाल, आर जेड-684/4डी, लेन नं. 9, इंद्रा पार्क, पालम कॉलोनी, नई दिल्ली-110045

CMYK # 93

संस्कृति को हाल में मिले सम्मान

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्

हिन्दी अकादमी, दिल्ली

(राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार)

अव्यावसायिक पत्रिका पुरस्कार 2006–07

प्रथम पुरस्कार

सुश्री मोहिनी हिंगोरानी

को

पर्यटन एवम् संस्कृति मंत्रालय संस्कृति विभाग से प्रकाशित संस्कृति (अर्द्धवार्षिक)

पत्रिका के उत्कृष्ट संपादन के लिए सादर भेंट।

नानक चंद	मुकुन्द द्विवेदी	शीला दीक्षित
सचिव	उपाध्यक्ष	मुख्यमंत्री एवं अध्यक्ष

राष्ट्रीय सहारा, 13 अगस्त, 2006

विहंगावलोकन

सुरेश सलिल

संस्कृति के सरोकार

'लगता है कला का प्रवाह अब उलटा हो चला है। समष्टि से व्यष्टि की ओर, समाज (यहां 'बाजार' पढ़ें) से कलाकार की ओर। अन्य उपभोक्तावादी वस्तुओं और जिंसों में प्रचलित विश्व प्रसिद्ध बड़े-बड़े ब्रांडों की तरह नामी-गरामी कलाकार और साहित्यकार और अन्य संस्कृतिकर्मी भी ब्रांड बन गए हैं, जिनकी कृतियों को खरीदने के लिए, यहां तक कि अग्रिम रूप से आरक्षित करने के लिए भी पूंजीपतियों की थैलियों के मुंह खुल जाते हैं। इस प्रकार के व्यक्तिवादी, विज्ञापनी, विणपन-व्यापार के सांस्कृतिक परिवेश में देश की मिट्टी की सोंधी सुगंधि के लिए, जमीन से जुड़े संस्कृतिकर्मियों को उनका देय कौन दिलवाएगा ?... 'संस्कृति' पत्रिका के नए अंक के संपादकीय में, पत्रिका की संपादक मोहिनी हिंगोरानी ने, भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति के इस वर्तमान पर चिंता व्यक्त करते हुए कई गंभीर सवाल उठाए हैं। अंत में वे कहती हैं, 'इन्हीं प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करते हुए पाब्लो नेरूदा के ये शब्द याद आ रहे हैं : कविता का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा/ यदि वह ओस की एक बूंद को न बचा सके...' 'संस्कृति' संस्कृति मंत्रालय की अर्धवार्षिक पत्रिका है और मोहिनी के संपादन में उसके अंकों में ओस की उसी एक बूंद को बचानी की जिजीविषा देखी जा सकती है। साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, लोकजीवन, कला आदि संस्कृति की लगभग सभी शाखा-प्रशाखाएं यहां लहराती-बलखाती देखी जा सकती हैं नयाभिराम साज-सज्जा के साथ। कमलेश्वर (कथा संस्कृतिः वैश्विक परिदृश्य), प्रो. लोकेश चंद (मानव संस्कृति को भारत का अवदान), जुबैद रिजवी (प्रेमचंद का अदब और तन्कीदे हयात), प्रयाग शुक्ल (कला जो कल भी रहेगी), डा. वीरेन्द्र सिंह यादव (चोलकालीन कला का सौंदर्यशास्त्र), मधुकर उपाध्याय (दांडी मार्चः सांप्रदायिक सद्भाव का आंदोलन), मीमांसक (इतिहास के यायावर), विजय वर्मा ('भारतीय मृण्मूर्तिकला), डा. हब्ल्यू.एच. सिद्दीकी (इंडो-इस्लामिक विरासत का बेजोड़ खजानाः रामपुर रजा लाइब्रेरी), डा. महीप सिंह (सह-अस्तित्व की भावना और बाबा शेख फरीद), डा. कृपाशंकर सिंह (ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकाएं), अरुण कुमार (जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन : जीवन और कृतित्व) -पत्रिका के इन दो अंकों के लेखकों और विषयों का एक झरोखा इसकी बहुआयामी और कल्पनाशील, संस्कृति-सजग संपादकीय दृष्टि के प्रति आश्वस्त करता है। 'संस्कृति' के अंकों का महत्व पढ़ने के साथ-साथ देखने के लिए भी है। पारंपरिक और आधुनिक कला के अनेक नायाब नमूनों से पाठ्य सामग्री की अर्थवत्ता बढ़ाने के साथ-साथ प्रत्येक अंक में किसी एक चुनिंदा कलाकृति का बड़ा प्रिंट (पोस्टर) भी रहता है और चारों आवरणों पर ऐतिहासिक महत्व की बहुरंगी कलाकृतियां। मार्च अंक के भीतरी मुख्य आवरण पर एक मुगलकालीन कलाकृति दी गई है जिसमें संत कबीरदास और संत रविदास को साथ-साथ चित्रित किया गया है। भीतरी अंतिम आवरण पर रामपुर रजा लाइब्रेरी के सौजन्य से 1565 ईस्वी की फारसी पांडुलिपि 'मजालिस-डल-अशाक' का एक पृष्ठ दिया गया है, जो शाहजादा कमालुद्दीन की लिखी हुई है और अंकित सूचना के अनुसार 'यह पुस्तक खाने-खाना बैरम खान के किताबखाने में 995 ई. में आई'। कामना की जानी चाहिए कि 'संस्कृति' इसी दृष्टि-संपन्नता और सुरुचि के साथ निकलती रहे।

''लैंस'', कलाकार : मदन लाल नागर